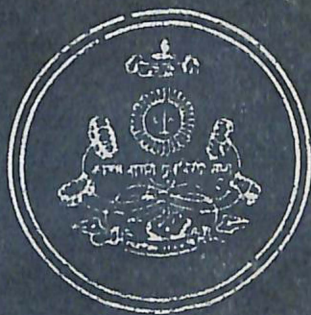


त्रिवेणी

(आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तीन प्रबंधों का संग्रह)



संपादक
कृष्णानंद

H
814.6
Sh 92 T

H
814.6
Sh 92 T

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

त्रिवेणी

(आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तीन समालोचनात्मक
प्रबंधों के विशिष्ट अंशों का संग्रह)

(Acharya Ramchandra Shukla ke teen
samalochanatikmak pranbandhon ke
Vishist anshon ka sangrah)

संपादक

कृष्णानंद ed by Krishnanand



National Book Trust, India, Varanasi

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण, काशी

सप्ताहसवाँ संस्करण : २१०० प्रतियाँ, सं० २०३० वि०

मूल्य ३-२५



Library

IIAS, Shimla

H 814.6 Sh 92 T



00046129

46129

46129

29.1.74

H

814.6

Sh 92 T

प्रकाशकीय

वर्तमान हिंदी आलोचना के सभी क्षेत्रों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की देन अन्यतम है। वे न केवल हिंदी आलोचना में आधुनिक आदर्श के प्रतिष्ठापक के रूप में स्मरण किए जाते हैं, अपितु उनकी प्रतिष्ठा हिंदी आलोचना को गंभीर भावभूमि पर प्रतिष्ठित करनेवाले ऐसे युगप्रवर्तक समालोचक एवं निबंधकार के रूप में सर्वमान्य है जिसकी क्षमता एवं देन अपने क्षेत्र में आज भी अनुपमेय है।

'त्रिवेणी' में शुक्ल जी के तीन समालोचनात्मक प्रबंधों—जायसी ग्रंथावली की भूमिका, भ्रमरगीतसार की भूमिका, तुलसी ग्रंथावली की भूमिका—के विशिष्ट अंशों का संकलन है, जिसके संग्राहक श्री कृष्णानंद जी प्रधानाचार्य, दयानंद महाविद्यालय, वाराणसी हैं। उन्होंने शुक्ल जी की आलोचना के संबंध में परिचयात्मक एवं उपयोगी लघु भूमिका भी दी है। जायसी, सूर एवं तुलसीदास के साहित्य को आचार्य शुक्ल की दृष्टि से समझने में इस पुस्तक ने हिंदी जगत् को सहायता दी है, इसलिये पठन पाठन के क्षेत्र में इस संग्रह का सदा से महत्व रहा है।

इस संग्रह में छापे की अनेक भूलें तथा छूटें आती गई थीं। इस संस्करण में उनसे मुक्ति पाने की यथासाध्य चेष्टा की गई है और इसे मूल से मिलाकर प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, इससे इसकी उपादेयता अक्षुण्ण रहेगी।

रथायात्रा, संवत् २०२७ वि०

}

सुधाकर पांडेय
प्रधान मंत्री

विषयसूची

भूमिका	१-१२
(१) मलिक मुहम्मद जायसी	१-३७
(२) महाकवि सूरदास	३८-६०
(३) गोस्वामी तुलसीदास	६१-८६

भूमिका

‘इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला । गुण-दोष-कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषता के अन्वेषण और उनकी अंतःप्रकृति की छानबीन की और भी ध्यान दिया गया’ । हिंदी गद्य साहित्य की वर्तमान गति के इतिहास में पंडित रामचंद्र शुक्ल ने यह उल्लेख किया है । इसके आगे वे स्वयं यह कैसे लिखते कि हिंदी में समालोचना के इस आधुनिक आदर्श की प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा श्रेय उन्हीं को है ।

परंपरा से समालोचना का जो रूप चला आया था, गुण दोष, अलंकार, रस आदि की जो रूढ़ियाँ प्रचलित थीं और उनके अनुसार रचनाओं पर जो विचार और निर्णय होते थे, उन्हें एक आधुनिक साहित्यशास्त्री यथार्थ समालोचना नहीं कह सकता । हिंदी के आधुनिक काल में कुछ विद्वानों ने विस्तृत विवेचन और तारतमिक आलोचना का जो रूप उपस्थित किया वह नए ढंग का होते हुए भी रूढ़िगत ही रहा ।

समालोचना तो साहित्य की चेतना है, वैसे ही जैसे साहित्य जीवन की चेतना । साहित्यकार जीवन की अनुभूतियों का भावन करता है और अपनी कला से उनके ऐसे अभिव्यंजन करता है कि वे सरल, संवेदनीय^१ होते हैं, और समालोचक उन अभिव्यंजनों का भावन करता है और अपनी कला से उनके ऐसे विवेचन करता है कि उनके मूल्य निर्णय हो जाते हैं । अनुभूतियों तथा उनके अभिव्यंजनों का भावन तो सभी सहृदय व्यक्तियों का गुण होता है । अतएव सहृदय जन को भावुक कहते हैं । परंतु कला के द्वारा अपने भावन का जो सफल अभिव्यंजन कर सकता है वह कवि तथा साहित्यकार होता है । और अपनी विशेष कला के द्वारा अपने भावन का जो सफल विवेचन कर सकता है, वह भावक तथा समालोचक होता है ।

समालोचक को, इसलिये, पहले समालोच्य वस्तु का भाव या तात्पर्य समझना पड़ता है । भावग्रह या तात्पर्यग्रह के साथ वह साहित्य, मनोविज्ञान, दर्शन आदि की दृष्टियों से उस वस्तु की व्यापक समीक्षा करता है । अतः दृष्टिभेद के कारण समीक्षा अनेक प्रकार की होती है । यह भी ध्यान में रखने की बात है कि किसी वस्तु या कृति के स्वरूप की, उसके भाव या तात्पर्य की पूरी समझ और फिर उसके व्यापक अध्ययन के लिये रचयिता को जानना और समझना, उनकी ‘अंतःप्रकृति की छानबीन’ और उसकी ‘विशेषता का अन्वेषण’, अर्थात् उसका विवेचन, आवश्यक है । कवि के अभिव्यंजनों का पूरा विवेचन तो उसकी प्रकृति का विवेचन करके ही हो सकता है । भावग्रह और समीक्षा से समालोचक पूरी व्याख्या या विवेचन करता है । इस कार्य में तुलना और विश्लेषण भी आवश्यक है । इसके बाद निश्चित सिद्धांतों के अनुसार निर्णय या मूल्यनिर्धारण का काम सुगम हो जाता है । समालोचना के ये दो पक्ष, व्याख्या और निर्णय, अथवा विवेचन और मूल्यनिर्धारण, मुख्य हैं । इनसे आलोचना बनती है । आलोचनाकालीन व्याख्या

या विवेचन के द्वारा कुछ शास्त्रीय तत्व या सिद्धांत निश्चित होते जाते हैं। समालोचक अपनी समीक्षा में इन्हें उपस्थित करता है या कुछ पूर्वनिश्चित सिद्धांतों की ओर निर्देश करता है और उन्हीं के अनुसार निर्णय या मूल्यनिर्धारण करता है। समालोचना का यह तृतीय पक्ष है जिससे तत्वनिरूपण होता है, साहित्यमीमांसा होती है और साहित्यशास्त्र बनता है। यह तत्वनिरूपण समालोचना का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है। परंतु, समालोचक भी तो एक व्यक्ति ही होता है। अपनी कृति में वह औरों के अभिव्यंजनों का भावन और विवेचन ही नहीं करता अपना भी अभिव्यंजन करता है। सहृदय तथा रसिक होकर ही तो वह भावक तथा समालोचक बनता है। इस प्रकार समालोचना स्वतः समालोचक के भावों का अभिव्यंजन होती है—अवश्य ही यह विवेचनायुक्त होती है। साहित्य की समालोचना, इस दृष्टि से, स्वयं एक साहित्य है। फिर यह भी समालोचना का विषय हो जाता है। अतः सम्, आलोचना में—(१) व्याख्या या विवेचन (भावग्रह और समीक्षा के द्वारा), (२) निर्णय या मूल्यनिर्धारण, (३) तत्वनिरूपण, (४) आत्माभिव्यंजन, ये चार पक्ष होते हैं।

इसके अनुसार समालोचना की अनेक विधियाँ होती हैं। समालोचक कभी व्याख्या और निर्णय के द्वारा आलोचना करता है, कभी व्याख्या पर विवेचन ही करता है, कभी निर्णय ही करता है और कभी विशेषतः तत्वनिरूपण ही। और कभी इन सबका एकत्र योग होता है। इन विधियों में समालोचक का अभिव्यंजन तो रहता ही है। संक्षेप में, साहित्यसमालोचना का यह स्वरूप है। इसमें भारतीय तथा यूरोपीय समालोचनाओं का समन्वय और समावेश संभव है।

आधुनिक समालोचना से प्रभावित होकर हिंदी के वर्तमान काल में मुख्यतः वाबू श्यामसुंदरदास और पं० रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य की व्यापक समीक्षा और उसके शास्त्रीय अध्ययन की ओर विधायक उद्योग किए हैं। पहले आलोचना में काव्य का विचार होता था, कवि विचारों की दृष्टि में प्रायः नहीं आता था। अब कवि भी विचार का विषय हुआ, काव्य को उसकी कृति के रूप में समझने की आधुनिक रीति चली। साहित्यमीमांसा में परंपरागत रूप सिद्धांत ही थे। अब तुलनात्मक अध्ययन और व्यापक विचार की ओर प्रवृत्ति हुई। साथ ही हिंदी गद्य का संस्कृत रूप उपस्थित हुआ जो समालोचनात्मक रचनाओं के लिये आवश्यक होता है। हिंदी में एक व्यापक साहित्यसमालोचना का यहीं से प्रवर्तन हुआ है।

पं० रामचंद्र शुक्ल की गद्य रचनाओं (अनुवादों को छोड़कर) के हम दो रूप देखते हैं—

(१) विचारात्मक और समालोचनात्मक निबंध, (२) समालोचनात्मक प्रबंध।

विचारात्मक और समालोचनात्मक निबंधों में 'श्रद्धा भक्ति', 'लज्जा और ग्लानि', 'क्रोध' आदि मनोभावों का विश्लेषण और 'कविता क्या है', 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' आदि विषयों का विवेचन है। निबंधों के रूप में ये मुख्यतः मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विवेचन हैं। मनोवैज्ञानिक विवेचन साहित्यिक विवेचन के उपयुक्त साधन बने और साहित्यिक विवेचनों के द्वारा समालोचना की भूमिका तैयार हुई। इन

रचनाओं से साहित्य में एक प्रकार के उत्कृष्ट निबंध तो आए ही, हिंदी में समालोचना के उपयुक्त एक विवेचनात्मक शैली का भी विकास हुआ ।

समालोचना का सामान्य रूप शुक्ल जी के उन प्रबंधों में आया है जो उन्होंने संपादकीय भूमिकाओं या प्रस्तावनाओं के लिये लिखे हैं । ग्रंथसंपादन एक कला है । प्राचीन ग्रंथ के संपादन में बड़े अनुसंधान, संस्करण और समीक्षा की आवश्यकता होती है । फिर उसका और उसके रचयिता का समालोचनात्मक अध्ययन होता है । शुक्ल जी ने जायसी ग्रंथावली, तुलसी ग्रंथावली और सूर के भ्रमरगीतसार का संपादन किया है । इनका संपादन विद्वत्ता से हुआ है । इसमें संपादन की विशिष्ट कला तो नहीं है, पर इनके साथ शुक्ल जी ने इन काव्यों और इन कवियों की समालोचनाएँ की हैं । यह इनकी विशेषता है । किसी कृति या उसके कर्ता की समालोचना के साधारणतः दो प्रकार होते हैं—संपादकीय भूमिका लिखकर अथवा पृथक् पुस्तक रचकर । ये समालोचनाएँ पहले प्रकार की हैं । किंतु इनमें एक व्यापक विचार हुआ है । रचना की दृष्टि से इन्हें प्रबंध कहना चाहिए, यद्यपि, शुक्ल जी ने इन्हें निबंध माना है । जायसी ग्रंथावली के 'वक्तव्य' में उसकी 'भूमिका' को उन्होंने 'विस्तृत निबंध' कहा है । 'भ्रमरगीतसार' के 'वक्तव्य' में भी उसकी 'भूमिका' को उन्होंने 'आलोचनात्मक निबंध' कहा है । एक स्वतंत्र व्यक्तिप्रधान रचना के बंध और एक व्यवस्थित, विषयप्रधान रचना के बंध में निबंध और प्रबंध का भेद मानना होगा । 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' और 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका' शुक्ल जी की ये दो रचनाएँ एक सी नहीं हैं । एक तो निबंध ही रहेगी और दूसरी एक पूरी समालोचना पुस्तक होगी । केवल उसे पुस्तक का रूप दे देना पड़ेगा । तुलसी ग्रंथावली की प्रस्तावना ने 'गोस्वामी तुलसीदास' का पुस्तक रूप धारण कर भी लिया है । 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका संक्षिप्त है । इसमें औरों का सा विस्तार नहीं है, किंतु इसमें सूर पर एक व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है । अतः विषय के विवेचन के विचार से यह भी प्रबंध ही है ।

इन प्रबंधों में कवियों और काव्यों के संबंध में मुख्यतः निम्नांकित विषयों का विचार किया गया है—(१) काल और परिस्थिति, (२) परंपरा और संप्रदाय, (३) कविपरिचय, (४) काव्यवस्तु, (५) मत और सिद्धांत, (६) आदर्श भावना, (७) काव्यपद्धति, (८) भावुकता और स्वभावचित्रण, (९) कविकर्म, (१०) भाषा और उसपर अधिकार, (११) काव्य के लिये विशेष गुण और दोष, (१२) साहित्य में काव्य और कवि का स्थान ।

कुछ भिन्न क्रम से, विस्तार या संक्षेप में, भिन्न भिन्न प्रबंधों में ये उपर्युक्त विषय आए हैं । काल और परिस्थिति तथा परंपरा और संप्रदाय के विचार ऐतिहासिक समीक्षाएँ हैं । इससे काव्य के वास्तविक रूप और साहित्यपरंपरा में उनके स्थान का ज्ञान होता है । कविपरिचय के द्वारा कवि के जीवनवृत्त और उसकी प्रकृति को जानने और समझने के प्रयत्न हुए हैं । उनकी 'अतःप्रकृति की छानबीन' और उनकी 'विशेषताओं के अन्वेषण' के प्रयत्न उसके काव्य की विविध समीक्षाओं और विवेचनों में हुए हैं । यह कविपरिचय उन प्रयत्नों के लिये आवश्यक सामग्री देता है । काव्यवस्तु के विचार में काव्य के विषय तथा उसके आधाराँ और उसके स्वरूपों का वर्णन है । काव्य की वस्तु को समझकर उसके भावों और उसमें निहित सिद्धांतों को समझने के प्रयत्न हुए हैं । इस प्रकार काव्य के भावग्रह

और उसकी तात्विक या दार्शनिक समीक्षा के द्वारा उसमें अभिव्यक्त मतों, सिद्धांतों और आदर्श भावनाओं की व्याख्याएँ हुई हैं। काव्य की साहित्यिक समीक्षा के द्वारा उसकी रचनापद्धति, कवि की भावुकता, उसके स्त्रभावचित्रण या चरित्रचित्रण, कविकर्म अर्थात् उसकी कला और उसकी भाषा, इन बातों का विचार हुआ है। इसमें शुक्ल जी ने काव्य के तत्वों के विचारविमर्श और निरूपण भी किए हैं। और फिर उन्होंने काव्य के अंगों का और अंगी काव्य का निर्णय किया है। काव्य के विशेष गुण और दोष का विचार तथा साहित्य में उस काव्य और कवि के स्थान का विचारनिर्णय है।

इन कृतियों में शुक्ल जी का अभिव्यंजन तो देखा ही जा सकता है। यहाँ स्थान नहीं कि उनकी 'अंतःप्रकृति की विस्तृत छानबीन' का प्रयत्न किया जाय। पर सूत्ररूप में ही—

(१) प्रकृतिप्रेम, (२) सौंदर्य, शक्ति और शील के सामंजस्य की आदर्शप्रियता, (३) सगुणोपासना में श्रद्धा, (४) लोकसंग्रही वृत्ति और मर्यादाप्रियता, (५) सहृदयता और भावुकता, (६) व्यक्तवादिता (अरहस्यवादिता), (७) प्रकृतवादिता,^१ (८) शिष्टवादिता^२, (९) प्रबंधप्रियता, (१०) भारतीयता या हिंदूपन।

शुक्ल जी के इन प्रधान गुणों या प्रवृत्तियों का निर्देश आवश्यक है। अध्ययनशील पाठक के लिये यह सूत्रनिर्देश पर्याप्त होना चाहिए। इन गुणों की दृष्टि से शुक्ल जी के प्रबंध उनके अभिव्यंजन प्रतीत होंगे और उनका साहित्यरूप प्रत्यक्ष होगा।

बहुत संक्षेप में ऊपर मैंने प्रबंधों की रूपरेखा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन प्रबंधों में उन काव्यों का एक व्यापक विचार हुआ है और यह कहा जा सकता है कि उनमें समालोचना का एक सामान्य रूप है।

शुक्लजी के समालोचनात्मक प्रबंधों के अध्ययन में उस प्रबंध का भी ध्यान रखना होगा, जो 'हिंदी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में ही आया था और जिसने परिवर्धित होकर अब 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का प्रतिष्ठित रूप धारण किया है। उसमें उन्होंने हिंदी साहित्य का 'व्यवस्थित ढाँचा' खड़ा करने का प्रयत्न किया है। इसके लिये साहित्य के विभिन्न कालों का निरूपण, उनकी ऐतिहासिक समीक्षाएँ, कवियों या लेखकों के संक्षिप्त परिचय और रचनाओं की संक्षिप्त साहित्यिक समीक्षाएँ, उनके संक्षिप्त विवेचन और निर्णय हुए हैं। साहित्य का इतिहास समालोचना तो है ही, पर मुख्यतः समीक्षा के रूप में। शुक्ल जी के इन प्रबंधों का अध्ययन करनेवाले को इस इतिहास का पूर्वमध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल बहुत परिचित सा लगेगा। जायसी निर्गुणधारा की प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि, तुलसी सगुणधारा को रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि और सूर सगुणधारा को कृष्णभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इस काल में बहुत कुछ उन प्रबंधों की बातें संक्षिप्त रूप में मिलेंगी। अवश्य वे बातें कुछ फिर से विचार की हुई और एक इतिहास की व्यवस्था में बँधी हुई मिलेंगी। अतः शुक्ल जी की कृतियों के बीच ही उन प्रबंधों के पूरे अध्ययन के लिये इस इतिहासप्रबंध का अवलोकन आवश्यक होगा। इससे अधिक उस प्रबंध के विषय में लिखने का यहाँ प्रसंग नहीं।

यहाँ प्रसंग पूर्वोक्त तीन प्रबंधों का है। उनके क्रम और तारतम्य पर कुछ विचार कर लेना चाहिए। उनमें पहले तुलसी ग्रंथावली की भूमिका, फिर जायसी ग्रंथावली की भूमिका और फिर भ्रमरगीतसार की भूमिका लिखी गई है। पहली भूमिका के 'गोस्वामी-तुलसीदास' का संशोधित संस्करण निकला है, जिसमें 'जीवनखंड' निकालकर 'भक्ति-पद्धति' और 'काव्यपद्धति' के प्रसंग बढ़ाए गए हैं। दूसरी भूमिका का नया संस्करण निकला है, जिसमें कुछ स्थलों में पुनर्विचार और परिवर्धन हुआ है। तीसरी भूमिका का भी दूसरा संस्करण निकल चुका है। इन प्रबंधों में विचार तथा शैली के विकास का अध्ययन करनेवाले को दो क्रमों का ध्यान रखना होगा। प्रथम संस्करणों का क्रम, तुलसी, जायसी, सूर और द्वितीय संस्करणों का क्रम, सूर, तुलसी, जायसी। तुलसी संबंधी प्रबंध में ही पहले व्यापक विचार का प्रयत्न हुआ है। निबंधों में शुक्ल जी की जो विवेचनात्मक गद्य-शैली बनी थी उसका यहाँ विकास दिखाई देता है। उस शैली का उत्तरोत्तर संस्कार उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। जायसी संबंधी प्रबंध में कुछ और व्यापक विचार हुआ है। इसमें शुक्ल जी को पहला प्रबंध लिख चुकने से लाभ रहा है। वस्तुतः विचार की पद्धति तो दोनों की समान ही है। पर दूसरा प्रबंध पहले से उन्नत है। इनमें तुलसी पर भी और तुलनात्मक विचार है। तत्परिष्कारण, जो समालोचक का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है, इस प्रबंध में कुछ और विकसित और निश्चित रूप में हुआ है। सूर संबंधी प्रबंध इन दोनों की तुलना में संक्षिप्त है। इसकी रचना में उन दोनों की सी व्यवस्था नहीं है। पर इसमें शुक्लजी के विचार और निश्चित हुए हैं। यहाँ जायसी और तुलसी पर भी उनके संक्षिप्त निश्चित विचार मिलते हैं। काव्य की कुछ पद्धतियों और वादों पर शुक्लजी के विचारों का इसमें आभास मिलता है। इसी में उन्होंने 'रहस्यवाद की कविता के साहित्यिक स्वरूप की मीमांसा' की प्रतिज्ञा की है। चार वर्ष बाद उन्होंने पुस्तकरूप में 'काव्य में रहस्यवाद' नामक विस्तृत समालोचनात्मक निबंध निकाला, जिसमें काव्य में प्रचलित कुछ और वादों—मुख्यतः कलावाद और अभिव्यंजनावाद के साथ रहस्यवाद या छायावाद की 'मीमांसा' हुई है। इस 'मीमांसा' के अनुसार रहस्यवाद काव्य की एक 'शाखाविशेष' है, उसका 'सामान्य स्वरूप' नहीं। यह वाद 'असामान्य', 'अव्यक्त', 'अभारतीय' और 'अनार्य' है। अतः यह उन्हें प्रिय नहीं। इस निबंध में उन्होंने अपने सिद्धांत का भी साथ ही निरूपण किया है, जिसे उन्होंने 'अभिव्यक्तिवाद और सामंजस्यवाद' '(जिसे मैंने ऊपर 'व्यक्तवाद' कहा है) नाम दिया है और जिसे वे 'भारतीय काव्यदृष्टि की विशेषता' मानते हैं। यहाँ इसके संबंध में मुझे कुछ और लिखना नहीं है। इतना उल्लेख इसलिये करना पड़ा कि तुलसी और जायसी संबंधी प्रबंधों के द्वितीय संस्करणों में इस निबंध के विचारों का बहुत प्रभाव है। उनके संशोधित या परिवर्धित स्थलों में इसकी विशेष बातें आई हैं। पहले संस्करणों में जायसी संबंधी प्रबंध औरों से अधिक व्यापक और अधिक व्यवस्थित है। सूर संबंधी प्रबंध अपनी संक्षिप्तता में ही बहुत मूल्यवान है। यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगा। दूसरे संस्करणों में भी जायसी संबंधी प्रबंध का वैसा ही पद है। सूर संबंधी प्रबंध का तो अपना मूल्य है ही, पर तुलसी संबंधी प्रबंध में शुक्ल जी का हृदय है।

जायसी, सूर, तुलसी के संबंध में शुक्ल जी के हृदय का और साहित्य के यथार्थ निर्णय का एक संयोग हुआ है। तुलसी संबंधी प्रबंध का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा

है—‘भाव और भाषा’ दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है । न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला कि ‘सूर सूर तुलसी ससी, उद्गार केशवदास’ । यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने-वाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है, तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारतहृदय, भारतीकंठ, भक्तचूड़ामणि ‘गोस्वामी तुलसीदास’ । जायसी संबंधी प्रबंध के उपसंहार में उन्होंने लिखा है—‘प्रबंधक्षेत्र में तुलसीदास जी का सर्वोच्च आसन है । उसका कारण यह है कि वीरता, प्रेम आदि जीवन का कोई एक ही पक्ष न लेकर उन्होंने संपूर्ण जीवन को लिया है और उसके भीतर आनेवाली अनेक दशाओं के प्रति अपनी गहरी अनुभूति का परिचय दिया है । जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है पर प्रेमवेदना अत्यंत गूढ़ है ।’ सूर संबंधी प्रबंध में उन्होंने यह विवेचन किया है कि ‘शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीन विभक्तियों में सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को रखा, जो प्रेम को आकर्षित करता है । शेष दो विभक्तियों को भी लेकर भगवान् के लोकरंजनकारी स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे हिंदी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास ने की है ।’ और फिर तुलसी पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि ‘केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामी जी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है । वे हैं प्रेम-स्रोतस्वरूप भक्तवर सूरदास जी । जबतक हिंदी साहित्य और हिंदीभाषी हैं तबतक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है ।’ अनेक स्थलों पर इन तीन महाकवियों के संबंध में उनके विचार और उद्गार मिलेंगे । तुलसी उन्हें सबसे अधिक प्रिय हैं । उनका कवि का आदर्श तुलसी में चरितार्थ है अथवा तुलसी से ही उनका यह आदर्श बना है । इसे समझने के लिये पोछे उल्लेख किए हुए उनके गुणों या प्रवृत्तियों का विचार करना चाहिए । और यथार्थतः जीवन और साहित्य, भाव और भाषा सभी दृष्टि से तुलसी हिंदी के श्रेष्ठ कवि हैं । सूर ‘सूर’ नहीं ठहरते । उनके संबंध में शुक्लजी का विचार ऊपर उद्धृत हो चुका है । पर तुलसी के बाद उन्हीं का स्थान है, कबीर का नहीं, जायसी का नहीं, केशव और विहारी का नहीं । शुक्लजी के शब्दों में ‘कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था । प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी । वह जायसी द्वारा पूरी हुई ।’ जायसी का कवित्व, इसलिये, कबीर के कवित्व से गहरा है । शुक्ल जी को कबीर रूखे भी लगे हैं । जायसी की मीठी, ‘प्रेम की पीर’ और उनकी रहस्यभावना भी शुक्ल जी को मुग्ध कर देती है । पर उनके इस हृदय-पक्ष को छोड़कर उनके ‘निर्गुनवाद’ और रहस्यवाद में कोई बहुत ऊंचा आदर्श नहीं, उनके चित्रण में व्यापकता नहीं । शुक्लजी का हृदय तो सगुणोपासक है, व्यक्तवादी है, शील, शक्ति और सौंदर्य के सामंजस्य का भक्त है । और फिर जायसी के कलापक्ष में भी तो त्रुटियाँ हैं । अतः सगुणोपासक, व्यक्तवादी, हृदयपक्ष और कलापक्ष दोनों के धनी सूर को हाँ दूमरा पद मिला है । और यह यथार्थ है कि सूर में जो मार्मिकता और सूझ है, और बहुत बड़ी बात, जो विदग्धता और कौशल है वह उन्हें बहुत ऊंचा पद दिलाता है । इसी से यह निर्णय बहुत सरल नहीं है कि हिंदी काव्य का ‘सूर’ यथार्थतः कौन है । विवेचन ही इसका निर्णय करता है । जायसी में यदि काव्यविदग्धता और कलाकुशलता भी होती तो अवश्य यह निर्णय कठिन हो जाता कि हिंदी काव्य का ‘ससी’ यथार्थतः कौन है । पता नहीं, फिर उनमें इतनी ठेठ मिठास रह जाती या नहीं । जायसी का रूप सहृदयता और रहस्यभावना में तो निराला है, पर तारतमिक विचार में इनका स्थान सूर के बाद

ही होगा। इस प्रकार शुक्ल जी के निर्णय उनकी प्रवृत्तियों के अनुकूल हैं, पर साथ ही वे साहित्य के यथार्थ निर्णय भी हैं। अतः जायसी, सूर, तुलसी, यह इतिहास का क्रम है, तो तुलसी, सूर, जायसी, यह साहित्यप्रतिष्ठा का क्रम है।

प्रस्तुत पुस्तक 'त्रिवेणी' में जायसी, सूर और तुलसी संबंधी उक्त तीन प्रबंधों के विशिष्ट अंशों का संग्रह है। जायसी संबंधी प्रबंध से काल और परिस्थिति के विषय का प्रारंभिक अंश, परंपरा और संप्रदाय के विषय का 'प्रेमगाथा' की परंपरा का अंश, बधावस्तु के विषय के पद्मावत की कथा, ऐतिहासिक आधार और पद्मावती की प्रेमपद्धति के अंश, भावुकता विषय का 'दिषोग पक्ष का अंश' और आदर्श भावना के विषय का 'जायसी का रहस्यवाद' का अंश उद्धृत है। सूर संबंधी प्रबंध से आदि से ४४ पृष्ठों का अंश लिया गया है जिसमें काल और परिस्थिति, परंपरा और संप्रदाय, कविकर्म, काव्यपद्धति, काव्य के विशेष गुण, भाषा, भावुकता, और फिर कविकर्म की विशेषताओं के विषय संनिविष्ट हैं। संक्षिप्त होने के कारण इस प्रबंध में औरों की सी पूर्वापर योजना नहीं है। इससे प्रायः एक ही विषय की बातें भिन्न स्थानों में आ गई हैं, अतथा इनकी व्यवस्था स्पष्ट है। तुलसी संबंधी प्रबंध से भावुकता का अंश और स्वभावचित्रण के विषय का 'शीलनिरूपण और चरित्रचित्रण' का अंश, ये दोनों उद्धृत हैं। इस प्रकार इस संग्रह में उन प्रबंधों के प्रायः सभी मुख्य विषयों के अंश उद्धृत हैं। उन तीन प्रबंधों का यह एक सार प्रस्तुत किया गया है। इस सार के लिये उन कवियों की विशेषताओं की दृष्टि से उन तीनों के विशिष्ट अंश संगृहीत हैं। भिन्न प्रबंधों के उन अंशों की अंतर्गोजना का ध्यान रखा गया है जिसमें उनकी अपनी धाराएँ बन जायें। अतः इस संग्रह में उन तीन महाकवियों के संबंध में शुक्ल जी की समालोचनाओं की त्रिवेणी का संगम है। ऊपर के विवेचनों से इन त्रिवेणियों के स्वरूप स्पष्ट होंगे। 'त्रिवेणी' में जायसी, सूर, तुलसी, इनके समालोचक शुक्ल जी और समालोचना, इन बातों का ध्यान अभीष्ट है।

समालोचना के स्वरूप का ऊपर जो संक्षिप्त विचार किया गया है, उसमें समालोचक के गुणों का भी कुछ निर्देश हुआ है। एक शब्द में समालोचक को कुशल विवेचक कह सकते हैं। परंतु स्पष्ट और व्यापक विचार के लिये उसे भावक, विवेचक, तत्त्व-निरूपक, निर्णायक समझना होगा। साधारण आलोचना की दृष्टि से तो उसे भावक, विवेचक, निर्णायक इस त्रिगुणात्मक रूप का ही समझना चाहिए।

भावकता भावुकता के आगे की बात है। भावक में केवल सहृदयता ही नहीं होती, मार्मिकता और विदग्धता भी होती है। तभी वह किसी अभिव्यंजना का यथार्थ भावन या भावग्रह करता है और आगे बढ़कर उसकी समीक्षा कर सकता है। साहित्य के विवेचक में भावकता तो होनी ही चाहिए, साहित्यविद्वत्ता और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विज्ञता से विश्लेषण, संश्लेषण, तुलना और व्याख्या की शक्ति भी होनी चाहिए। तभी वह किसी कृति का यथार्थ विवेचन करता है और उसके द्वारा साहित्यतत्त्व प्रकट करते हैं। तत्त्वनिरूपक में विवेचक की शक्ति के साथ साथ शाब्दज्ञता भी होनी चाहिए। तब वह साहित्य का शास्त्रीय विवेचन करता है जिससे तत्त्व और सिद्धत स्थिर होते हैं और साहित्य-शास्त्र बनता है। निर्णायक में विवेचक के गुणों के साथ साहित्य के तत्त्वों और प्रमाणों का

ज्ञान होना चाहिए और निष्पक्षता तथा न्याय से कृतियों के मूल्यनिर्धारण की योग्यता होनी चाहिए। समालोचक का यह स्वरूप है।

संक्षेप में ही यहाँ अब शुक्ल जी के समालोचक रूप का विचार कर लेना चाहिए। उनके इस रूप का कुछ आभास तो ऊपर के विचारों में ही मिला होगा। इस विचार में उनके उपर्युक्त गुणों या प्रवृत्तियों का ध्यान रखना होगा। उनका भावक रूप 'त्रिवेणी' में उद्धृत कवियों की भावुकता के विचारों में देखा जा सकता है। इनमें उनकी सहृदयता और उनका हिंदी काव्य का अध्ययन स्पष्ट लक्षित होते हैं। शुक्ल जी के ये भावन कहीं कहीं बड़े सरस हुए हैं। सूरदास की भावुकता की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—'आगे देखिए,, गहरी 'उत्मुकता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्त' (निर्वेद) और 'तिरस्कारमिश्रित खिजलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है। यशोदा नंद से कहती हैं—

नंद ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय ।

देहु विदा मिनि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ।

'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है। 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है, मैं तो जाती हूँ।' एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो दो तीन तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भावगुरुत्व हृदय का सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भावशबलता कहें या भावपंचामृत, क्योंकि एक ही वाक्य 'नंद ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय' में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यंजना—जिसे शबलता ही कहने से संतोप नहीं होता, पाई जाती है। शबलता के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है, पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है। यह एक उदाहरण है। पर शुक्ल जी की भावुकता पर उनकी प्रवृत्तियों का अंकुश रहता है। अपनी व्यक्तवादिता की प्रवृत्ति के अनुकूल काव्यों में व्यक्त भावनाओं का ही वे सफल भावन करते हैं। अव्यक्त, अप्रकृत, आदर्शभावना और रहस्यभावना में शुक्ल जी की श्रद्धा नहीं, ये उनकी सहृदयता के बाहर हैं। यदि कवि की कल्पना कहीं 'इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लग जाती है' तो वह रहस्यमय वर्णन उन्हें बहुत 'धुंधला' दिखाई देता है, उससे मानों उनका जी घबराने लगता है। शुक्ल जी 'लोकधर्म' के बड़े भक्त हैं। इस लोक में ही सौंदर्य, शक्ति और शील की भावना के वे भावुक हैं। उनकी लोकसंग्रही वृत्ति को लोकोत्तर 'आदर्श लोक की ओर' के संकेतों से कुछ अर्थ नहीं दिखाई पड़ता। वे इस लोक के जीव हैं, यहाँ से बाहर की ओर की बातों से उनकी महानुभूति नहीं है, इसी से 'रहस्यमयी' रचनाएँ उन्हें बहुत भातीं नहीं। जहाँ कोई यह पद्धति छोड़ कर कवि आदि का आश्रय लेता है वहाँ उन्हें संतोप मिलता है। उनको मगुणोत्तमता में श्रद्धा की बात स्मरणीय है। जायसी की 'निर्गुन' रहस्य-भावना जो उन्हें प्रिय है, वह इस कारण कि जायसी में भारतीय संस्कार है, वे स्मरणीय 'दृग्मंजन उपाधिन करने में समर्थ हुए हैं।' सच पूछिए तो उनके काव्य का अभी यथार्थ भावन और विवेचन नहीं हुआ है। शुक्ल जी की एक ओर विवेचना ध्यान में रखनी चाहिए। वे बड़े प्रकृतिप्रेमी और प्रकृतिवादी हैं। इस संग्रह में भावुकताविचार के स्थलों में यह बात स्थान स्थान पर दिखाई देगी। प्रकृति के विभिन्न रूपों और मनुष्य के प्रकृत संबंधों, भावों और व्यवहारों में उन्हें बहुत रस मिलता है। किस प्रकार तुलसी में उनका हृदय है और

उनके बाद सूर को वे कैसा मानते हैं, इसका उल्लेख हो चुका है। शुक्ल जी की सहृदयता और भावुकता समझने के लिये उपर्युक्त बातों का ध्यान रखना चाहिए। इससे शुक्ल जी में कैसी मामिकता है और वे काव्य की कैसी समीक्षा करते हैं, यह समझा जा सकता है।

शुक्ल जी का विवेचक रूप हमें उनकी विस्तृत समीक्षाशक्ति का परिचय देता है। ऐतिहासिक समीक्षाओं के द्वारा काव्यों के अध्ययन की भूमिकाएँ तैयार करने के उनके प्रयत्न बड़े उपादेय हैं। अभी इनमें और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। मनो-वैज्ञानिक, दार्शनिक या साहित्यिक समीक्षाओं के द्वारा काव्यों का जो विवेचन उन्होंने किया है, उसका स्वरूप समझ लेना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि उनकी विवेचन की शैली उनकी समीक्षा की पद्धति, यूरोपीय है। समालोचना के जिस स्वरूप को लेकर वे साहित्यक्षेत्र में उतरते हैं उसका ढाँचा विलायती ही है। 'कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अंतःप्रकृति का विश्लेषण करनेवाली' जिस 'उच्चकोटि की समालोचना' या 'आधुनिक समालोचना' की ओर वे अग्रसर हुए हैं वह यूरोप का प्रसाद है। उसके साथ उन्होंने भारतीय रस, अलंकार, शब्दशक्ति आदि के विवेचन का 'सामंजस्य वृद्धि से समन्वय' करना चाहा है। हिंदी में साहित्यसमालोचना की आधुनिक स्फूर्ति तो यूरोप से ही आई है, पर इस यूरोपीय समीक्षापद्धति के साथ भारतीय मीमांसापद्धति के समन्वय का विधायक उद्योग हिंदी में बाबू श्यामसुंदरदास और पंडित रामचंद्र शुक्ल ने किया है। यह समन्वय-साधना शुक्लजी के समालोचनात्मक उद्योगों की विशेषता है। इस प्रकार का समन्वय बहुत शुभ और उपादेय है। साहित्यसमालोचना की व्यापक शास्त्रीय प्रतिष्ठा इससे हो सकती है। इस समन्वयसाधना से शुक्ल जी ने समालोचना का एक सामान्य रूप खड़ा कर दिया है। पर वह अभी यथेष्ट व्यवस्थित और आप्त नहीं हो सका है। यथेष्ट व्यवस्था और आप्तता व्यापक शास्त्रीय विवेचन और तत्वनिरूपण से ही संभव है। अतः उनके विवेचनों को विवेचन के साथ बढ़ना होगा। आधुनिक समालोचना की जिस विशेषता का वे अपने इतिहास में बार बार उल्लेख करते हैं, उसे लाने का उद्योग उन्होंने अपने प्रबंध में किया है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा के द्वारा 'कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और उनकी अंतःप्रकृति के विश्लेषण' के जैसे प्रयत्न यूरोप में हुए हैं और हो रहे हैं, वैसे प्रयत्न अभी हिंदी में होने को हैं। हिंदी समालोचना तभी यथेष्ट वैज्ञानिक हो सकेगी। इसके अतिरिक्त दार्शनिक समीक्षा के द्वारा रचयिताओं की अखंड कृतियों का जैसा समूहालंबनात्मक अध्ययन होता है वैसे अध्ययन की हिंदी में बड़ी आवश्यकता है।

उपर्युक्त विचार में शुक्ल जी के तत्वनिरूपक रूप का विचार भी एक प्रकार से हो गया। सूरसंबंधी प्रबंध में काव्य के कुछ वादों पर उन्होंने अपनी धारणाओं का आभास दिया था; उसका जो विस्तृत रूप 'काव्य में रहस्यवाद' नामक समालोचनात्मक निबंध में प्रकट हुआ उसका उल्लेख हो चुका है। उस निबंध के विचारों का दूसरा संस्करण इंदौर साहित्यसंमेलन के साहित्यपरिषद् में उनके भाषण के रूप में प्रकट हुआ है। वह भी एक पुस्तकाकार समालोचनात्मक निबंध है। केवल तत्वनिरूपण के क्षेत्र में शुक्ल जी की ये दो ही रचनाएँ हैं। इनमें जो विवेचन और तत्वनिरूपण हुए हैं, उनके संबंध में वक्तव्य यही है कि किसी वाद या मत के पूर्वपक्ष का पूर्णतः विचार करके ही यथार्थ विवेचन किया जा सकता है और सिद्धांतपक्ष की स्थापना हो सकती है। इसका पालन न होने से स्थापना

यथेष्ट व्यवस्थित और आप्त नहीं बनती है, तथापि बहुत कुछ शुक्ल जी के समन्वयात्मक तत्त्वरूपण के द्वारा ही हिंदी साहित्यशास्त्र तथा समालोचना में युगांतर प्रवर्तित हुआ है ।

ऊपर के विचारों से शुक्ल जी के निर्णायक रूप का भी कुछ आभास स्पष्ट मिल गया । यद्यार्थ निर्णय के लिये विवेचन और मिश्रित तत्त्वरूपण की आवश्यकता होती है । शुक्ल जी ने निष्पक्ष न्याययुक्त निर्णय करना चाहा है । जायसी, सूर और तुलसी के निर्णय में तो उनकी शिष्टवादिता बहुत कुछ सहायक हुई है । पर, जैसा पहले दिखाया जा चुका है, इन निर्णयों पर भी अवश्य ही उनकी प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा है; निर्णय में पूर्ण निष्पक्षता की बात तो आदर्श ही आदर्श रहती है ।

यहाँ शुक्ल जी की रचनाशैली का भी कुछ उल्लेख आवश्यक है । शैली में व्यक्तित्व रहता है, यह एक प्रसिद्ध बात है । शैलीविचार में लेखक के व्यक्तित्व और उसकी विशेषताओं का उल्लेख होता है अतः शैलीविचार के दो पक्ष होते हैं, जिन्हें अंगरेजी समालोचक वाल्टर पेटर ने शैली का आत्मपक्ष (सॉल इन स्टाइल) और मानपक्ष (काइंड इन स्टाइल) कहा है और जिन्हें एक दूसरे प्रसंग में शुक्ल जो हृदयपक्ष और कलापक्ष कहते हैं ।

शुक्ल जी का हृदयपक्ष उनके गुराणों या प्रवृत्तियों के विवेचन से स्पष्ट करने का प्रयत्न हो चुका है । उनका कलापक्ष उनकी गद्यरचना के विचार से स्पष्ट होगा । आधुनिक मनोवैज्ञानिक समीक्षा के अनुसार शैली किसी व्यक्ति का लेखकरूप है । शुक्ल जी के लेखन में उनके अध्ययन का संस्कार रहा करता है । अतः उनका गद्य उत्तरोत्तर संस्कृत होता आया है । वर्तमान काल में हिंदी गद्य ने जो संस्कृत और शिष्ट बनकर इतनी उन्नति की है उसमें शुक्ल जी का भी बहुत हाथ रहा है । उनके लेखन के लिये ऐसा गद्य अनिवार्य भी था । उनकी शिष्टवादिता प्रबंधप्रियता और विवेचनप्रवृत्ति के लिये ऐसा शिष्ट, विवेचनात्मक गद्य बनना ही चाहिए था । हिंदी के 'गद्य साहित्य का प्रसार' के इतिहास में निबंधों के विषय का उपसंहार करते हुए उन्होंने जो उद्गार प्रकट किया है—'खेद है कि समासशैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखनेवाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थपरंपरा कसी हो, दो चार लेखक हमें न मिले'—वह स्वयं उनकी गद्यशैली का भेद बताता है । उनकी गंभीर और विचारशील प्रवृत्ति के अनुकूल उनकी शैली प्रधानतः समास की ही है । उनके वाक्य इसी से गँठे बँधे हैं, जिनमें 'अर्थपरंपरा कसी' रहती है । किसी विचार के उपसंहार में उन्होंने इस शैली का विशेष प्रयोग किया है और कहीं कहीं यह बड़े काम का हुआ है । प्रस्तुत 'विवेणी' के पृष्ठ ३ पर ऐसे उपसंहारात्मक वाक्यों का एक अच्छा उदाहरण मिलेगा—'कवीर ने केवल भिन्न प्रतीति होती हुई परीक्षा सत्ता की एकता का आभाम दिया था । प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी । वह जायसी द्वारा पूरी हुई ।'

शुक्ल जी की विचारशीलता का उल्लेख हो चुका है । इससे उनकी शैली विचारात्मक ही है । उनकी भावुकता के अनुकूल उनकी शैली में भावात्मकता भी कहीं कहीं है, विशेषतः भावुकता के विचार में । इस भावुकता के कारण उनके विचारों की तह में या स्वतः विचारों में लिपटी भावात्मकता भी कहीं कहीं लक्ष्य है । सूरदास के संप्रदाय के परिचय में विचार के साथ उनकी भावात्मकता और उनके गद्य की सालंकारता का एक अच्छा उदाहरण मिलता है—'जयदेव की देववाणी की सिन्धु पीयूषधारा, जो काल की कठोरता

में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरलता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिलकंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करीलकुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरिली और मधुर भनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। इसी भावात्मकता के साथ शुक्ल जी के संयत और अंतर्मुख हास्य भी को याद कर लेना चाहिए। इसकी झलक उनकी आलोचनाओं में व्यंग के छोटों में मिलती है।

भाषा शुक्ल जी की प्रायः गूँठी होती है। उनमें विशेषतः शुद्ध तत्सम शब्दों के प्रयोग की ही प्रवृत्ति नहीं है। वे तद्भव शब्दों को भी अपनाते हैं और प्रसंगानुसार उर्दू की भी कद करते हैं। उनकी भाषा और उनके गद्य का स्वरूप उनके अँगरेजी अध्ययन का विचार करके ही समझे जा सकते हैं। जिस प्रकार विचारों में उसी प्रकार भाषा में भी शुक्ल जी ने अँगरेजी से बहुत कुछ लिया है। उसके गद्य से वे बहुत प्रभावित हैं। हिंदी की उन्नति और संपन्नता के लिये ही अँगरेजी से उन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया है। इस ग्रहण से उनका गद्य उसकी गद्यशैली से प्रभावित हुआ है। इसी से अनेक स्थलों में अँगरेजी से अनभिज्ञ पाठक को उनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। स्यात् यह बात इस कारण भी दिखाई देती है कि शुक्ल जी ने साधारण पाठक के लिये बहुत कम लिखा है। उक्त तीनों प्रबंध और दोनों विस्तृत निबंध तो उन्होंने मुख्यतः कालेज के विद्यार्थियों या अँगरेजी से अभिन्न विद्वान् पाठकों के लिये ही लिखे हैं। इस प्रभाव में कहीं कहीं उधार ग्रहण भी लक्ष्य है। जैसे स्यात् अँगरेजी के 'एक्सरसाइज आव् इमोशन' को उन्होंने 'भावों का व्यायाम' लिखा है। हिंदी वा संस्कृत 'व्यायाम' में अँगरेजी 'एक्सरसाइज' की लाक्षणिकता नहीं है। अस्तु इस प्रभाव से लाभ हुआ है। इससे शुक्ल जी की शैली में अँगरेजी की सी कुछ लाक्षणिकता और वक्रता आई है। यह बात तो निश्चित है कि शुक्ल जी के द्वारा हिंदी गद्य का बहुत कुछ संस्कार और उपकार हुआ है।

शुक्लजी ने विवेचनों में अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों के प्रतिशब्द संस्कृत से गढ़े और निकाले हैं। संस्कृत के शास्त्रीय शब्द तो उनमें हैं ही। उनकी शैली में, इस कारण, एक पारिभाषिकता है। इन अँगरेजी से लिए और संस्कृत से निकाले शब्दों के विषय में भी वही बात है जो मैंने उनके विवेचन और समन्वयसाधना में कही है। हिंदी में पारिभाषिक शब्दों की परीक्षा और व्यवस्था होनी चाहिए, अन्यथा समालोचना में अशास्त्रीयता रहेगी और साहित्यशास्त्र न बन सकेगा।

शैली का मर्म तो शब्द अर्थ की सच्ची और पूरी संपृक्तता तथा संगति में रहता है। कविकुलगुरु कालिदास ने 'रघुवंश' के प्रारंभ में वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये 'पार्वती-परमेश्वरों' की जो वंदना की है उसमें उनके वाक् और अर्थ के समान संपृक्त रूप का ही ध्यान किया गया है। यह वाक् और अर्थ की संपृक्तता ही साहित्य है और रचना में इस संपृक्तता तथा संगति का निर्वाह ही साहित्य की शैली है। लेखक के अपने अर्थ और उसकी भाषा के शब्द इन दोनों की संपृक्तता का जैसा रूप होगा वैसी ही लेखक की शैली होगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि शैली में लेखक का व्यक्तित्व कैसे रहता है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि शैलीविवेचन कैसे होना चाहिए। लेखक के जो अर्थ हैं, जो भाव और

विचार हैं उनको वह अपने शब्दों में, अपनी भाषा में कौसी सच्चाई के साथ लाता है, यह देखना शैलीविवेचन का मुख्य कार्य है। शुक्ल जी की शैली का विचार करने से यह प्रकट होता है कि वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके विचार या भाव उनकी भाषा में काफी सच्चाई से उतरें। जब मधुर, ओजस्वी, प्रसन्न आदि भावों के अनुकूल भाषा मिल जाती है तभी शैली में माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण आते हैं। शुक्ल जी के पास भाव तथा विचार होते हैं और वे उन्हें अपनी भाषा में बल के साथ कहते हैं। इससे उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व का एक ओज होता है। अपने विचारों के निश्चय के कारण उनके गद्य में प्रसाद भी पाया जाता है। उनकी भाषा में वहीं वहीं जो बिलप्टता है वह बहुत कुछ उनकी समासशैली के कारण।

अंत में, यह बात ध्यान में रखनी होगी कि शुक्ल जी की रचनाओं के द्वारा हिंदी में समालोचना का एक सामान्य रूप आया है। अनुवादों को छोड़कर उनकी गद्यरचनाओं के विचार से प्रकट है कि वे विशेषतः समालोचनात्मक हैं। समालोचना के ही कार्य मुख्यतः उनमें हुए हैं। भारतीय तथा यूरोपीय पद्धतियों के समन्वय के महत्वपूर्ण प्रयत्न भी शुक्ल जी ने किए हैं और वे हिंदी में विवेचनात्मक गद्य के प्रमुख निमांताओं में हैं। उनकी समालोचना का रूप चाहे अभी यथेष्ट परिमित न हुआ हो, पर यह निश्चित है, जैसा ऊपर प्रारंभ में ही मैंने निवेदन किया है कि हिंदी में समालोचना के आधुनिक आदर्शों की प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा श्रेय उन्हीं को है। पंडित रामचंद्र शुक्ल हिंदी के एक अधिकृत आचार्य हैं।

—कृष्णानंद

त्रिवेणी

मलिक मुहम्मद जायसी

सौ वर्ष पहले कवीरदास हिंदू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडित और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी। साधुओं और फकीरों को दोनों दीन के लोग आदर और संमान की दृष्टि से देखते थे। साधु या फकीर भी सर्वप्रिय वे ही हो सकते थे, जो भेदभाव से परे दिखाई पड़ते थे। बहुत दिनों तक एक साथ रहते हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना अपना हृदय खोलने लगे थे, जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। मुसलमान हिंदुओं की रामकहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिंदू मुसलमानों का दास्तान हमजा। नलदमयंती की कथा मुसलमान जानने लगे थे और लैला(मजनून) की हिंदू। ईश्वर तक पहुँचानेवाला मार्ग ढूँढ़ने की सलाह भी दोनों कभी कभी साथ बैठकर करने लगे थे। इधर भक्तिमार्ग के आचार्य और महात्मा भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहरा चुके थे और उधर सूफी महात्मा मुसलमानों को 'इश्क हकीकी' का सवक पढ़ाते आ रहे थे।

चैतन्य महाप्रभु, बल्लभाचार्य और रामानंद के प्रभाव से प्रेमप्रधान वैष्णवधर्म का जो प्रवाह बंगदेश से लेकर गुजरात तक बढ़ा, उसका सबसे अधिक विरोध शाक्तमत और वाममार्ग के साथ दिखाई पड़ा। शाक्त-मत-विहित पशुहिंसा, मंत्रतंत्र तथा यक्षिणी आदि की पूजा वेदविरुद्ध अनाचार के रूप में समझी जाने लगी। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के बीच 'साधुता' का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया था। बहुत से मुसलमान फकीर भी अहिंसा का सिद्धांत स्वीकार करके मांसभक्षण को बुरा कहने लगे थे।

ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिंदुओं के ही घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्यमात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे वाहरी रूपरंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।

अमीर खुसरो ने मुसलमानी राजत्वकाल के आरंभ में ही हिंदू जनता के प्रेम और विनोद में योग देकर भावों के परस्पर आदान प्रदान का सूत्रपात किया था, पर अलाउद्दीन के कट्टरपन और अत्याचार के कारण दोनों जातियाँ एक दूसरे से खिंची सी रहीं, उनका हृदय मिल न सका। कवीर की अटपटी बानी से भी दोनों के दिल साफ न हुए। मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के व्यवहार से जिस हृदयसाम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उलसे न हुई। जिस प्रकार दूसरी जाति या मतवाले के हृदय है, उसी प्रकार हमारे भी हैं, जिस

प्रकार दूसरों के हृदय में प्रेम की तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार हमारे हृदय में भी, प्रिय का वियोग जैसे दूसरे को व्याकुल करता है, वैसे ही हमें भी, माता का जो हृदय दूसरे के यहाँ है वही हमारे यहाँ भी। जिन बातों से दूसरे को सुख दुःख होता है उन्हीं बातों से हमें भी, इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण कुतबन, जायसी आदि प्रेमकहानी के कवियों द्वारा हुआ। अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखलाते हुए उन सामान्य जीवनदशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कवीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता थी, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।

प्रेमगाथा की परंपरा—इस नवीन शैली की प्रेमगाथा का आविर्भाव इस बात के प्रमाणों में से है कि इतिहास में किसी राजा के कार्य सदा लोकप्रवृत्ति के प्रतिबिंब नहीं हुआ करते। इस बात को ध्यान में रखकर कुछ नवीन पद्धति के इतिहासकार प्रकरणों का विभाग राजाओं के राजत्वकाल के अनुसार न करके लोक की प्रगति के अनुसार करना चाहते हैं। एक ओर तो कट्टर और अन्यायी सिकंदर लोदी मथुरा के मंदिरों को गिराकर मसजिदें खड़ी कर रहा था; दूसरी ओर पूरव में बंगाल के शासक हुसेनशाह के अनुरोध से, जिसने 'सत्य पीर' की कथा चलाई थी, कुतबन मियाँ एक ऐसी कहानी लेकर जनता के सामने आए, जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपने मनुष्य होने का परिचय दिया। इस मनुष्यत्व को ऊपर करने में हिंदूपन, मुसलमानपन, ईसाईपन आदि के उस स्वरूप का प्रतिरोध होता है जो विरोध की ओर ले जाता है। हिंदुओं और मुसलमानों को एक साथ रहते अब इतने दिन हो गए थे कि दोनों का ध्यान मनुष्यत्व के सामान्य स्वरूप की ओर स्वभावतः जाय।

कुतबन चिश्ती बंग के शेख वुरहान के शिष्य थे। उन्होंने 'मृगावती' नाम का एक काव्य मन् ९०९ हिजरी में लिखा। इसमें चंद्रनगर के राजा गरुणपतिदेव के राजकुमार और कंचननगर के राजा रूपमुरार की कन्या मृगावती के प्रेम की कथा है।

जायसी ने प्रेमियों के दृष्टांत देते हुए अपने से पूर्व लिखी कुछ प्रेमकहानियों का उल्लेख किया है—

विक्रम धँसा प्रेम के वारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा ॥
 मधू पास मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
 राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
 साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ॥
 प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लागि अनिरुध वर वाँधा ॥

विक्रमादित्य और ऊषा अनिरुद्ध की प्रसिद्ध कथाओं को छोड़ देने से चार प्रेम-कहानियाँ जायसी के पूर्व लिखी हुई पाई जाती हैं। इनमें से 'मृगावती' की एक खंडित प्रति का पता तो नागरीप्रचारिणी सभा को लग चुका है। 'मधुमालती' की भी फारसी

अक्षरों में लिखी हुई एक प्रति मैंने किसी सज्जन के पास देखी थी, पर किसके पास, यह स्मरण नहीं।

चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती की कथा' नागरीप्रचारिणी सभा को मिली है, जिसका निर्माणकाल ज्ञात नहीं और जो अत्यंत भ्रष्ट गद्य में है। 'मुग्धावती' और 'प्रेमावती' का पता अभी तक नहीं लगा है। जायसी के पीछे भी 'प्रेमगाथा' की यह परंपरा कुछ दिनों तक चलती रही। गाजीपुर निवासी शेख हुसैन के पुत्र उसमान (मान) ने संवत् १६७० के लगभग चित्रावली लिखी, जिसमें नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर के राजा रत्नसेन की कन्या चित्रावली की प्रेमकहानी है। भाषा इसकी अवधी होने पर भी कुछ भोजपुरी लिए है। यह नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। दूसरी पुस्तक नूरमुहम्मद की 'इंद्रावती' है, जो संवत् १७९६ में लिखी गई थी। इसे भी उक्त सभा प्रकाशित कर चुकी है।

इन प्रेमगाथा काव्यों के संबंध में पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना बिल्कुल भारतीय चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है, जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्ष के रूप में रहता है। मसनवी के लिये साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छंद में हो, पर परंपरा के अनुसार उसमें कथारंभ के पहले ईश्वरस्तुति, पौंगवर की वंदना और उस समय के राजा (शाहवेक्त) की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें पद्मावत, इंद्रावत, मुगावती इत्यादि सबमें पाई जाती हैं।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि ये सब प्रेमकहानियाँ पुरबी हिंदी अर्थात् अवधी भाषा में एक नियत क्रम के साथ केवल चौपाई दोहे में लिखी गई हैं। जायसी ने सात सात चौपाइयों (अध्यायों) के बाद एक दोहे का क्रम रखा है। जायसी के पीछे गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरितमानस' के लिये यही दोहे चौपाई का क्रम ग्रहण किया। चौपाई और बरवै मानों अवधी भाषा के अपने छंद हैं। इनमें अवधी भाषा जिस सौष्ठव के साथ ढली है, उस सौष्ठव के साथ ब्रजभाषा नहीं। उदाहरण के लिये लाल कवि के 'छवप्रकाश', पद्माकर के 'रामरसायन' और ब्रजयासीदास के 'ब्रजविलास' को लीजिए। 'बरवै' तो ब्रजभाषा में कहा ही नहीं जा सकता। किसी पुराने कवि ने ब्रजभाषा बरवै लिखने का प्रयास भी नहीं किया।

तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि इस शैली की प्रेमकहानियाँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी गईं। इन भावुक और उदार मुसलमानों ने इनके द्वारा माना हिंदू जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। यदि मुसलमान हिंदी और हिंदू साहित्य से दूर न भागते, इनके अध्ययन का क्रम जारी रखते, तो उनमें हिंदुओं के प्रति सद्भाव की वह कमी न रह जाती, जो कभी कभी दिखाई पड़ती है। हिंदुओं ने फारसी और उर्दू के अभ्यास द्वारा मुसलमानों की जीवनकथाओं के प्रति अपने हृदय का सामंजस्य पूर्ण रूप से स्थापित किया, पर खेद है कि मुसलमानों ने इसका सिलसिला बंद कर दिया। किसी जाति की जीवनकथाओं का बार बार सामने लाना उस जाति के प्रेम और सहानुभूति को प्राप्त करने का स्वाभाविक साधन है। 'पद्मावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर मुसलमानों

के ही घर में पाई गई हैं। इतना मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि जिन मुसलमानों के यहाँ यह पोथी देखी गई है, उन सबको मैंने विरोध से दूर और अत्यंत उदार पाया।

पद्मावत की कथा—जायसी की लिखी जो तीन पुस्तकें पाई जाती हैं, उनमें महत्वपूर्ण 'पद्मावत' है। उसकी कथा इस प्रकार है—

कवि सिंहलद्वीप, उसके राजा गंधर्वसेन, राजसभा, नगर, बगीचे इत्यादि का वर्णन करके पद्मावती के जन्म का उल्लेख करता है। राजभवन में हीरामन नाम का एक अद्भुत सूत्रा था, जिसे पद्मावती बहुत चाहती थी और जो सदा उसी के पास रहकर अनेक प्रकार की बातें कहा करता था। पद्मावती क्रमशः सयानी हुई और उसके रूप की ज्योति भूमंडल में सबसे ऊपर हुई। जब उसका विवाह कहीं न हुआ तब वह रातदिन हीरामन से इसी बात की चर्चा किया करती थी। सूए ने एक दिन कहा कि यदि कहो तो देशांतर में फिरकर मैं तुम्हारे योग्य वर ढूँँ। राजा को जब इस बातचीत का पता लगा, तब उसने क्रुद्ध होकर सूए को मार डालने की आज्ञा दी। पद्मावती ने विनती करके किसी प्रकार सूए के प्राण बचाए। सूए ने पद्मावती से विदा माँगी पर पद्मावती ने प्रेम के मारे सूए को रोक लिया। सूत्रा उस समय तो रुक गया, पर उसके मन में बराबर खटका बना रहा।

एक दिन पद्मावती सखियों को लिए हुए मानसरोवर में स्नान और जलक्रीड़ा करने गई। सूए ने सोचा कि अब यहाँ से चटपट चल देना चाहिए। वह वन की ओर उड़ा, जहाँ पक्षियों ने उसका वड़ा सत्कार किया। दस दिन पीछे एक बहेलिया हरी पत्तियों की टट्टी लिए उस वन में चला आ रहा था। और पक्षी तो उस चलते पेड़ को देखकर उड़ गए पर हीरामन चारे के लोभ से वहीं रहा। अंत में बहेलिए ने उसे पकड़ लिया और बाजार में उसे बेचने के लिये ले गया। चित्तौर के एक व्यापारी के साथ एक दीन ब्राह्मण भी कहीं से रूपए लेकर लाभ की आशा में सिंहल की हाट में आया। उसने सूए को पंडित देख मोल लिया और लेकर चित्तौर आया। चित्तौर में उस समय राजा चित्रसेन मर चुका था। और उसका बेटा रत्नसेन गद्दी पर बैठा था। प्रशंसा सुनकर रत्नसेन ने लाख रूपए देकर हीरामन सूए को मोल ले लिया।

एक दिन रत्नसेन कहीं शिकार को गया था। उसकी रानी नागमती सूए के पास आई और बोली 'मेरे समान सुंदरी और भी कोई संसार में है?' इसपर सूत्रा हँसा और उसने सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन करके कहा कि उनमें और तुममें दिन और अँधेरी रात का अंतर है। रानी ने सोचा कि यदि यह तोता रहेगा तो किसी दिन राजा से भी ऐसा ही कहेगा और वह मुझसे प्रेम करना छोड़कर पद्मावती के लिये जोगी होकर निकल पड़ेगा। उसने अपनी धाय से उसे ले जाकर मार डालने को कहा। धाय ने परिणाम सोचकर उसे मारा नहीं। छिपा रखा। जब राजा ने लौटकर सूए को न देखा तब उसने वड़ा कोप किया। अंत में हीरामन उसके सामने लाया गया और उसने सब वृत्तान्त कह सुनाया। राजा को पद्मावती का रूपवर्णन सुनने की उत्कंठा हुई और हीरामन ने उसने रूप का वड़ा लंबा चौड़ा वर्णन किया। उस वर्णन को सुनकर राजा बेसुध हो गया। उसके हृदय में ऐसी प्रबल अभिलाषा जगी कि वह रास्ता बताने के लिये हीरामन को साथ ले जोगी होकर घर से निकल पड़ा।

उसके साथ सोलह हजार कुँवर भी जोगी होकर चले । मध्य प्रदेश के नाना दुर्गम स्थानों के बीच होते हुए सब लोग कर्लिंग देश में पहुँचे । वहाँ के राजा गजपति से जहाज लेकर रत्नसेन ने और सब जोगियों के सहित सिंहल द्वीप की ओर प्रस्थान किया । शीर समुद्र, दधि समुद्र, उदधि समुद्र, सुरा समुद्र और किलकिला समुद्र, को पार करके वे सातवें मानसरोवर समुद्र में पहुँचे जो सिंहलद्वीप के चारों ओर है । सिंहलद्वीप में उतरकर जोगी रत्नसेन तो अपने जोगियों के साथ महादेव के मंदिर में बैठकर तप और पद्मावती का ध्यान करने लगा और हीरामन पद्मावती से भेंट करने गया । जाते समय वह रत्नसेन से कहता गया कि वसंतपंचमी के दिन पद्मावती इस महादेव के मंडप में वसंतपूजा करने आएगी, उस समय तुम्हें उसका दर्शन होगा और तुम्हारी आशा पूर्ण होगी ।

बहुत दिनों पर हीरामन को देख पद्मावती बहुत रोई । हीरामन ने अपने निकल भागने और वेचे जाने का वृत्तांत कह सुनाया । इसके उपरांत उसने राजा रत्नसेन के रूप, कुल, ऐश्वर्य, तेज आदि की बड़ी प्रशंसा करके कहा कि वह सब प्रकार से तुम्हारे योग्य वर है और तुम्हारे प्रेम में जोगी होकर यहाँ तक आ पहुँचा है । पद्मावती ने उसकी प्रेमव्यथा को सुनकर जयमाल देने की प्रतिज्ञा की और कहा कि वसंतपंचमी के दिन पूजा के बहाने मैं उसे देखने जाऊँगी । सूत्रा यह सब समाचार लेकर राजा के पास मंडप में लौट आया ।

वसंतपंचमी के दिन पद्मावती सखियों के सहित मंडप में गई और उधर भी पहुँची जिधर रत्नसेन और उसके साथी जोगी थे । पर ज्योंही रत्नसेन की आँखें उसपर पड़ीं, वह मूर्छित होकर गिर पड़ा । पद्मावती ने रत्नसेन को सब प्रकार से वैसा ही पाया, जैसा सूए ने कहा था । वह मूर्छित जोगी के पास पहुँची और उसे होश में लाने के लिये उसपर चंदन छिड़का । जब वह न जागा तब चंदन से उसके हृदय पर यह बात लिखकर वह चली गई कि 'जोगी, तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा; जब प्राप्ति का समय आया तब तू सो गया ।'

राजा को जब होश आया तब बहुत पछताने लगा और जल मरने के लिये तैयार हुआ । सब देवताओं को भय हुआ कि यदि कहीं यह जला तो इस घोर विरहाग्नि से सारे लोक भस्म हो जाएँगे । उन्होंने जाकर महादेव पार्वती के यहाँ पुकार की । महादेव कोड़ी के वेश में बेल पर चढ़े राजा के पास आए और जलने का कारण पूछने लगे । इधर पार्वती की, जो महादेव के साथ ही आई थीं, यह इच्छा हुई कि राजा के प्रेम की परीक्षा लें । वे अत्यंत सुंदरी अप्सरा का रूप धरकर राजा के पास आईं और बोलीं 'मुझे इंद्र ने भेजा है । पद्मावती को जाने दे; तुझे अप्सरा प्राप्त हुई ।' रत्नसेन ने कहा मुझे पद्मावती को छोड़कर किसी से कुछ प्रयोजन नहीं । पार्वती ने महादेव से कहा कि रत्नसेन का प्रेम सच्चा है । रत्नसेन ने देखा कि इस कोड़ी की छाया नहीं पड़ती है, इसके शरीर पर मक्खियाँ नहीं बैठती हैं और इसकी पंजकें नहीं गिरती हैं अतः यह निश्चय सिद्ध पुरुष है । फिर महादेव को पहचानकर वह उनके पैरों पर गिर पड़ा । महादेव ने उसे सिद्धिगुटिका दी और सिंहलद्वीप में घुमने का मार्ग बताया । सिद्धिगुटिका पाकर रत्नसेन सब जोगियों को लिए सिंहलद्वीप पर चढ़ने लगा ।

राजा गंधर्वसेन के यहाँ जब यह खबर पहुँची तब उसने दूत भेजे । दूत से जोगी रत्नसेन ने पद्मिनी के पाने का अभिप्राय कहा । दूत क्रुद्ध होकर लौट गए । इस बीच में हीरामन रत्नसेन का प्रेमसंदेश लेकर पद्मावती के पास गया और पद्मावती का प्रेमभरा संदेश आकर उसने रत्नसेन से कहा । इस संदेश से रत्नसेन के शरीर में और भी बल आ गया । गढ़ के भीतर जो अगाध कुंड था उसमें वह रात को घँसा और भीतर द्वार को, जिसमें वज्र के किवाड़ लगे थे, उमन जा खोला । पर इसी बीच में सवेरा हो गया और वह अपने साथी जोगियों के सहित घेर लिया गया । राजा गंधर्वसेन के यहाँ विचार हुआ कि योगियों को पकड़कर सूली दे दी जाय । दल बल के सहित सब सरदारों ने योगियों पर चढ़ाई की । रत्नसेन के साथी युद्ध के लिये उत्सुक हुए, पर रत्नसेन ने उन्हें यह उपदेश देकर शांत किया कि प्रेममार्ग में क्रोध करना उचित नहीं । अंत में सब योगियों सहित रत्नसेन पकड़ा गया । इधर यह सब समाचार सुन पद्मावती की दुरी दशा हो रही थी । हीरामन सूए ने जाकर उसे धीरज बाँधाय कि रत्नसेन पूर्ण सिद्ध हो गया है, वह मर नहीं सकता ।

जब रत्नसेन को बाँधकर सूली देने के लिये लाए तब जिसने उसे देखा, सबने कहा कि यह कोई राजपुत्र जान पड़ता है । इधर सूली की तैयारी हो रही थी, उधर रत्नसेन पद्मावती का नाम रट रहा था । महादेव ने जब जोगी पर ऐसा संकट देखा तब वे और पार्वती भाँट भाँटिन का रूप धरकर वहाँ पहुँचे । इसी बीच हीरामन सूआ भी रत्नसेन के पास पद्मावती का यह संदेशा लेकर आया कि 'मैं भी हथेली पर प्राण लिए बैठी हूँ, मेरा जीना मरना तुम्हारे साथ है ।' भाँट (जो वास्तव में महादेव थे) ने राजा गंधर्वसेन को बहुत समझाया कि यह जोगी नहीं, राजा है और तुम्हारी कन्या के योग्य वर है, पर राजा इसपर और भी क्रुद्ध हुआ । इसी बीच योगियों का दल चारों ओर से लड़ाई के लिये चढ़ा । महादेव के साथ हनुमान आदि सब देवता जोगियों की सहायता के लिये खड़े हुए । गंधर्वसेन की सेना के हाथियों का समूह जब आगे को बढ़ा तब हनुमान जी ने अपनी लंबी पूँछ में सबको लपेटकर आकाश में फेंक दिया । राजा गंधर्वसेन को फिर महादेव का घंटा और विष्णु का शंख जोगियों की ओर सुनाई पड़ा और साक्षात् शिव युद्ध-स्थल में दिखाई पड़े । यह देखते ही गंधर्वसेन महादेव के चरणों पर जा गिरा और बोला, कन्या आपकी है, जिसे चाहिए उसे दीजिए । इसके उपरांत हीरामन सूए ने आकर राजा रत्नसेन के चित्तौर से आने का सब वृत्तांत कह सुनाया और गंधर्वसेन ने बड़ी धूमधाम से रत्नसेन के साथ पद्मावती का विवाह कर दिया । रत्नसेन के साथी जो सोलह हजार कुँवर थे, उन सबका विवाह भी पद्मिनी स्त्रियों के साथ हो गया और सब लोग बड़े आनंद के साथ कुछ दिनों तक सिंहल में रहे ।

इधर चित्तौर में वियोगिनी नागमती को राजा की बात जोहते एक वर्ष हो गया । उसके विलाप से पशु पक्षी विकल हो गए । अंत में आधी रात को एक पक्षी ने नागमती के दुःख का कारण पूछा । नागमती ने उससे रत्नसेन के पास पहुँचाने के लिये अपना संदेशा कहा । वह पक्षी नागमती का संदेशा लेकर सिंहलद्वीप गया और समुद्र के किनारे एक पेड़ पर बैठा । संयोग से रत्नसेन शिकार खेलते खेलते उसी पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ । पक्षी ने पेड़ पर से नागमती की दुःखकथा और चित्तौर की हीनदशा का वर्णन किया । रत्नसेन का जी सिंहल से उचटा और उसने स्वदेश की ओर प्रस्थान किया । चलते

समय उसे सिंहल के राजा के यहाँ से विदाई में बहुत सामान और धन मिला । इतनी अधिक संपत्ति देख राजा के मन में गर्व और लोभ हुआ । वह सोचने लगा कि इतना अधिक धन लेकर यदि मैं स्वदेश पहुँचा तो फिर मेरे समान संसार में और कौन है । इस प्रकार लोभ ने राजा को आ घेरा ।

समुद्रतट पर जब रत्नसेन आया तब समुद्र याचक का रूप धरकर राजा से दान माँगने आया. पर राजा ने लोभवश उसका तिरस्कार कर दिया । राजा आधे समुद्र में भी नहीं पहुँचा था कि बड़े जोर का तूफान आया, जिससे जहाज लंका की ओर वह गए । वहाँ त्रिभीषण का एक राक्षस माँभी मछली मार रहा था । अच्छा आहार देख राजा से बोला कि चलो हम तुम्हें रास्ते पर लगा दें । राजा उसकी बातों में आ गया । वह राक्षस सब जहाजों को एक भयंकर समुद्र में ले गया, जहाँ से निकलना कठिन था । जहाज चक्कर खाने लगे और हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि डूबने लगे । वह राक्षस आनंद से नाचने लगा । इसी बीच समुद्र के एक राजपक्षी वहाँ आ पहुँचा जिसके डँनों का ऐसा घोर शब्द हुआ मानों पहाड़ के शिखर टूट रहे हों । वह पक्षी उस दुष्ट राक्षस को चंगुल में दबाकर उड़ गया । इस प्रकार उस राक्षस से निस्तार हुआ, पर सब जहाज खंड खंड हो गए । जहाज के एक तख्ते पर एक ओर राजा वहा और दूसरे तख्ते पर दूसरी ओर रानी ।

पद्मावती बहते बहते वहाँ जा लगी जहाँ समुद्र की कन्या लक्ष्मी अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी । लक्ष्मी मूर्च्छित पद्मावती को अपने घर ले गई । पद्मावती को जब चेत हुआ तब वह रत्नसेन के लिये विलाप करने लगी । लक्ष्मी ने उसे धीरज बंधाया और अपने पिता समुद्र से राजा की खोज कराने का वचन लिया । इधर राजा बहते बहते एक ऐसे निर्जन स्थान में पहुँचा, जहाँ मूँगे के टीलों के सिवाय और कुछ न था । राजा पद्मावती के लिये बहुत विलाप करने लगा और कटार लेकर गले में मारना ही चाहता था कि ब्राह्मण का रूप धरकर समुद्र सामने आ खड़ा हुआ और मरने से रोका । अंत में समुद्र ने राजा से कहा कि तुम मेरी लाठी पकड़कर आँख मूँद लो; मैं तुम्हें उसी तट पर पहुँचा दूँगा जहाँ पद्मावती है ।

जब राजा उस तट पर पहुँच गया तब लक्ष्मी उसकी परीक्षा लेने के लिये पद्मावती का रूप धारण कर रास्ते में जा बैठी । रत्नसेन उन्हें पद्मावती समझ उनकी ओर लपका । पास जाने पर वे कहने लगी, 'मैं ही पद्मावती हूँ' । पर रत्नसेन ने जब देखा कि यह तो पद्मावती नहीं है तब चट मुँह फेर लिया । अंत में लक्ष्मी रत्नसेन को पद्मावती के पास ले गई । रत्नसेन और पद्मावती कई दिनों तक समुद्र और लक्ष्मी के मेहमान रहे । पद्मावती की प्रार्थना पर लक्ष्मी ने उन सब साथियों को भी ला खड़ा किया, जो इधर उधर वह गए थे । जो मर गए वे थे भी अमृत से जिला दिए गए । इस प्रकार बड़े आनंद से वे लोग विदा हुए । विदा होते समय समुद्र ने बहुत से अमृत्य रत्न दिए । सबसे बढ़कर पाँच पदार्थ दिए—अमृत, हंस, राजपक्षी, शार्दूल और पारस पत्थर । इन सब अनमोल पदार्थों को लिए अंत में रत्नसेन और पद्मावती चित्तौर पहुँच गए । नागमती और पद्मावती दोनों रानियों के साथ रत्नसेन सुखपूर्वक रहने लगा । नागमती से नागसेन और पद्मावती से कमलसेन, ये दो पुत्र राजा को हुए ।

चित्तौर की राजसभा में राघव चेतन नाम का एक पंडित था, जिसे यक्षिणी

सिद्ध थी। एक दिन राजा ने पंडित से पूछा, 'दूज कब है?' राघव से मुँह से निकला 'आज'। और सब पंडितों ने एक स्वर में कहा कि 'आज' नहीं हो सकती, कल होगी।' राघव ने कहा, 'यदि आज दूज न हो तो मैं पंडित नहीं।' पंडितों ने कहा—'राघव वाममार्गी है, यक्षिणी की पूजा करता है, जो चाहे सो कर दिखावे, पर आज दूज नहीं हो सकती।' राघव ने यक्षिणी के प्रभाव से उसी दिन संध्या के समय द्वितीया का चंद्रमा दिखा दिया^१। पर दूसरे दिन जब चंद्रमा देखा गया तब वह द्वितीया का ही चंद्रमा था। इसपर पंडितों ने राजा रत्नसेन से कहा, 'देखिए, यदि कल द्वितीया रही होती तो आज चंद्रमा की कला कुछ अधिक होती। भूठ और सच की परख कर लीजिए।' राघव का भेद खुल गया और वह वेदविरुद्ध आचार करनेवाला प्रमाणित हुआ। राजा रत्नसेन ने उसे देशनिकाले का दंड दिया।

पद्मावती ने जब यह मुना तब उसने ऐसे गुराणी पंडित का असंतुष्ट होकर जाना राज्य के लिये अच्छा नहीं समझा। उसने भारी दान देकर राघव को प्रसन्न करना चाहा। सूर्यग्रहण का दान देने के लिये उसने उसे बुलवाया। जब राघव महल के नीचे आया, तब पद्मावती ने अपने हाथ का एक अमूल्य कंगन—जिसका जोड़ा और कहीं दुःप्राप्य था—भरोखे पर से फेंका। भरोखे पर से पद्मावती की भलक देखकर राघव वेसुध होकर गिर पड़ा। जब उसे चेत हुआ तब उसने सोचा कि अब यह कंगन लेकर वादशाह के पास दिल्ली चलूँ और पद्मिनी के रूप का उसके सामने वर्णन करूँ। वह लंपट है, तुरंत चित्तौर पर चढ़ाई करेगा और इसके जोड़े का दूसरा कंगन भी मुझे इनाम देगा। यदि ऐसा हुआ तो राजा से मैं बदला भी ले लूँगा और सुख से जीवन भी बिताऊँगा।

यह सब सोचकर राघव दिल्ली पहुँचा और वहाँ वादशाह अलाउद्दीन को कंगन दिखाकर उसने पद्मिनी के रूप का वर्णन किया। अलाउद्दीन ने बड़े आदर से उसे अपने यहाँ रखा और सरजा नामक एक दूत के हाथ एक पत्र रत्नसेन को भेजा कि पद्मिनी को तुरंत भेज दो, बदले में और जितना राज चाहो, ले लो। पत्र पाते ही राजा रत्नसेन क्रोध से लाल हो गया और बहुत विगड़कर दूत को वापस कर दिया। अलाउद्दीन ने चित्तौर-गढ़ पर चढ़ाई कर दी। आठ वर्षों तक मुसलमान चित्तौर को घेरे रहे और घोर युद्ध होता रहा, पर गढ़ न टूट सका। इस बीच दिल्ली से एक पत्र अलाउद्दीन को मिला, जिसमें हरेव लोगो के फिर से चढ़ आने का समाचार लिखा था। वादशाह ने जब देखा गढ़ नहीं टूटता है तब उसने कपट की एक चाल सोची। उसने रत्नसेन के पास संधि का प्रस्ताव भेजा और यह कहलाया कि मुझे पद्मिनी नहीं चाहिए; समुद्र से जो पाँच अमूल्य वस्तुएँ तुम्हें मिली हैं उन्हें देकर मेल कर लो। राजा ने स्वीकार कर लिया और वादशाह को चित्तौरगढ़ के भीतर ले जाकर बड़ी धूमधाम से उसकी दावत की।

गोरा और वादल नामक दो विश्वासपात्र सरदारों ने राजा को बहुत समझाया कि मुसलमानों का विश्वास करना ठीक नहीं, पर राजा ने ध्यान न दिया। वे दोनों वीर

१. लोना चमारिन के संव्रंध में भी प्रसिद्ध है कि उसकी बात इसी प्रकार सत्य करने के लिये देवी ने प्रतिपदा के दिन आकाश में जाकर अपने हाथ का कंगन दिखाया था, जिससे देखनेवालों को द्वितीया के चंद्रमा का भ्रम हुआ था।

नीतिज्ञ सरदार रूठकर अपने घर चले गए । कई दिनों तक बादशाह की मेहमानदारी होती रही । एक दिन वह टहलते टहलते पद्मिनी के महलों की ओर जा निकला, जहाँ एक से एक रूपवती स्त्रियाँ स्वागत के लिये खड़ी थीं । बादशाह ने राघव से, जो बराबर उसके साथ साथ था, पूछा कि इनमें पद्मिनी कौन है ? राघव ने कहा पद्मिनी इनमें कहाँ ? ये तो उसकी दासियाँ हैं; बादशाह पद्मिनी के महल के सामने ही एक स्थान पर बैठकर राजा के साथ शतरंज खेलने लगा । जहाँ वह बैठा था वहाँ उसने एक दर्पण भी इसलिये रख दिया था कि पद्मिनी यदि भरोखे पर आवेगी तो उसका प्रतिबिंब दर्पण में देखूँगा । पद्मिनी कुतूहलवश भरोखे के पास आई और बादशाह ने उसका प्रतिबिंब दर्पण में देखा । देखते ही वह वेहोश होकर गिर पड़ा ।

अंत में बादशाह ने राजा से विदा माँगी । राजा उसे पहुँचाने के लिये साथ साथ चला । एक एक फाटक पर बादशाह राजा को कुछ न कुछ देता चला । अंतिम फाटक पार होते ही राघव के इशारे से बादशाह ने रत्नसेन को पकड़ लिया और बाँधकर दिल्ली ले गया । वहाँ राजा को एक तंग कोठरी में बंद करके वह अनेक प्रकार के भयंकर कष्ट देने लगा । इधर चित्तौर में हाहाकार मच गया । दोनों रानियाँ रो रोकर प्राण देने लगीं । इसी अवसर पर राजा रत्नसेन के शत्रु कुंभलनेर के राजा देवपाल को दुष्टता सूझी । उसने कुमुदिनी नाम की एक दूती को पद्मावती के पास भेजा । पहले तो पद्मिनी उसे अपने मायके की स्त्री सुनकर बड़े प्रेम से मिली और उससे अपना दुःख कहने लगी पर जब धीरे धीरे उसका भेद खुला तब उसने उचित ढंङ देकर उसे निकलवा दिया । इसके पीछे अलाउद्दीन ने भी योगिनी के वेश में एक दूती इस आशा से भेजी कि वह रत्नसेन से भेंट कराने के वहाने पद्मिनी को योगिनी बनाकर अपने साथ दिल्ली लावेगी । पर उसकी भी दाल न गली ।

अंत में पद्मिनी गोरा और बादल के घर गई और उन दोनों क्षत्रिय वीरों के सामने अपना दुःख रोकर उसने उनसे राजा को छोड़ाने की प्रार्थना की । दोनों ने राजा को छोड़ाने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और रानी को बहुत धीरज बँधाया । दोनों ने सोचा कि जिस प्रकार मुसलमानों ने धोखा दिया है उसी प्रकार उनके साथ भी चाल चलनी चाहिए । उन्होंने सोलह सौ ढँकी पालकियों के भीतर तो सशस्त्र राजपूत सरदारों को बिठाया और जो सबसे उत्तम और बहुमूल्य पालकी थी उसके भीतर औजार के साथ एक लोहार को बिठाया । इसी प्रकार वे यह प्रसिद्ध करके चले कि सोलह सौ दासियों के सहित पद्मिनी दिल्ली जा रही है ।

गोरा के पुत्र बादल की अवस्था बहुत थोड़ी थी । जिस दिन दिल्ली जाना था उसी दिन उसका गवना आया । उसकी नवागत वधू ने उसे युद्ध में जाने से बहुत रोका पर उस वीर कुमार ने एक न सुनी । अंत में सोलह सौ सवारियों के सहित वे दिल्ली के किले में पहुँचे । वहाँ कर्मचारियों को घूस देकर उन्होंने अपने अनुकूल किया, जिससे किसी ने पालकियों की तलाशी न ली । बादशाह के यहाँ खबर गई कि पद्मिनी आई है और कहती है कि मैं राजा से मिल लूँ और चित्तौर के खजाने की कुंजी उनके सुपुर्द कर दूँ तब महल में जाऊँ । बादशाह ने आज्ञा दे दी । वह सजी हुई पालकी वहाँ पहुँचाई गई जहाँ राजा रत्नसेन कैद था । पालकी में से निकलकर लोहार ने चट राजा की वेड़ी काट दी और वह आस्त्र लेकर घोड़े पर सवार हो गया जो पहले से तैयार था । देखते देखते और हथियारबंद

सरदार भी पालकियों में से निकल पड़े। इस प्रकार गोरा और वादल राजा को छुड़ाकर चित्तौर चले।

वादशाह ने जब सुना तब अपनी सेनासहित पीछा किया। गोरा वादल ने जब शाही फौज पीछे देखी तब एक हजार सैनिकों को लेकर गोरा तो शाही फौज को रोकने के लिये डट गया और वादल राजा रत्नसेन को लेकर चित्तौर की ओर बढ़ा। वृद्ध वीर गोरा वीरता से लड़कर हजारों को मारकर अंत में सरजा के हाथ मारा गया। इस बीच में राजा रत्नसेन चित्तौर पहुँच गया। चित्तौर पहुँचते ही उसी दिन रात को पद्मिनी के मुँह से रत्नसेन ने जब देवपाल की दुष्टता का हाल सुना तब उसने उसे बाँध लाने की प्रतिज्ञा की। सबेरा होते ही रत्नसेन ने कुंभलनेर पर चढ़ाई कर दी। रत्नसेन और देवपाल के बीच द्वंद्व युद्ध हुआ। देवपाल की साँग रत्नसेन की नाभि में घुसकर उस पार निकल गई। देवपाल साँग मारकर लौटा चाहता था कि रत्नसेन ने उसे जा पकड़ा और उसका सिर काटकर उसके हाथ पैर बाँधे। इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर और चित्तौरगढ़ की रक्षा का भार वादल को साँप रत्नसेन ने शरीर छोड़ा।

राजा के शव को लेकर पद्मावती और नागमती दोनों रानियाँ सती हो गईं। इतने में शाही सेना चित्तौरगढ़ आ पहुँची। वादशाह ने पद्मिनी के सती होने का समाचार सुना। वादल ने प्राण रहते गढ़ की रक्षा की पर अंत में वह फाटक की लड़ाई में मारा गया और चित्तौरगढ़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

ऐतिहासिक आधार : पद्मावत की संपूर्ण आख्यायिका को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—रत्नसेन की सिंहलद्वीपयात्रा से लेकर पद्मिनी को लेकर चित्तौर लौटने तक हम कथा का पूर्वार्ध मान सकते हैं और राघव के निकाले जाने से लेकर पद्मिनी के सती होने तक उत्तरार्ध। ध्यान देने की बात है कि पूर्वार्ध तो विलकुल कल्पित कहानी है और उत्तरार्ध ऐतिहासिक आधार पर है। ऐतिहासिक अंश के स्पष्टीकरण के लिये 'टाँड' राजस्थान में दिया हुआ चित्तौरगढ़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृत्तान्त हम नीचे देते हैं।

विक्रम संवत् १३३१ में लखनसी चित्तौर के सिंहासन पर बैठा। वह छोटा था इससे उसका चाचा भीमसी (भीमसिंह) ही राज्य करता था। भीमसी का विवाह सिंहल के चौहान राजा हम्मीर शक की कन्या पद्मिनी से हुआ था जो रूप गुण में जगत् में अद्वितीय थी। उसके रूप की ख्याति सुनकर दिल्ली के वादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौरगढ़ पर चढ़ाई की। घोर युद्ध के उपरांत अलाउद्दीन ने संधि का प्रस्ताव भेजा कि मुझे एक बार पद्मिनी का दर्शन ही हो जाय तो मैं दिल्ली लौट जाऊँ। इसपर यह ठहरी कि अलाउद्दीन दर्पण में पद्मिनी की छाया मात्र देख सकता है। इस प्रकार युद्ध बंद हुआ और अलाउद्दीन बहुत थोड़े से सिपाहियों के साथ चित्तौरगढ़ के भीतर लाया गया। वहाँ से जब वह दर्पण में छाया देखकर लौटने लगा तब राजा पूरा विश्वास करके गढ़ के बाहर तक उसको पहुँचाने आया। बाहर अलाउद्दीन के बहुत से सैनिक पहले से घात में लगे हुए थे। ज्योंही राजा बाहर आया, वह पकड़ लिया गया और मुसलमानों के शिविर में, जो चित्तौर से थोड़ी दूर पर था, कैद करके यह घोषणा की गई कि जबतक पद्मिनी न भेज दी जायगी, राजा नहीं छूट सकता।

चित्तौर में हाहाकार मच गया। पद्मिनी ने जब यह सुना तब अपने मायके के गौरा और बादल नाम के दो सरदारों से मंत्रणा की। गौरा पद्मिनी का चाचा लगता था और बादल गौरा का भतीजा था। उन दोनों ने राजा के उद्धार की एक युक्ति सोची। अलाउद्दीन के पास कहलाया गया कि पद्मिनी जायगी पर रानी की मर्यादा के साथ। अलाउद्दीन अपनी सब सेना वहाँ से हटा दे और परदे का पूरा इंतजाम कर दे। पद्मिनी के साथ बहुत सी दासियाँ रहेंगी और दासियों के सिवा बहुत सी सखियाँ भी होंगी, जो केवल उसे पहुँचाने और विदा करने जाएँगी। अंत में सात सौ पालकियाँ अलाउद्दीन के खेमे की ओर चलीं। हर एक पालकी में एक सशस्त्र वीर राजपूत बैठा था। एक एक पालकी उठानेवाले छह छह कहार थे, वे भी कहार बने हुए सशस्त्र सैनिक थे। जब वे शाही खेमे के पास पहुँचे तब चारों ओर कनातें घेर दी गईं। पद्मिनी को अपने पति से अंतिम भेंट करने के लिये आधे घंटे का समय दिया गया। राजपूत चटपट राजा को पालकी में बिठाकर चित्तौरगढ़ की ओर चल पड़े, शेष पालकियाँ मानों पद्मिनी के साथ दिल्ली जाने के लिये रह गईं। अलाउद्दीन की भीतरी इच्छा भीमसी को चित्तौरगढ़ जाने देने की न थी। देर देखकर वह घबराया। इतने में वीर राजपूत निकल पड़े। अलाउद्दीन पहले से सतर्क था। उसने पीछा करने का हुक्म दिया। पालकियों से निकले हुए राजपूत पीछा करनेवालों को कुछ देर तक बड़ी वीरता से रोके रहे पर अंत में एक एक करके वे सब मारे गए।

इधर भीमसी के लिये बहुत तेज घोड़ा तैयार था। वह उसपर सवार होकर गौरा बादल आदि कुछ चुने हुए साथियों के साथ चित्तौरगढ़ के भीतर पहुँच गया। पीछा करनेवाली मुसलमान सेना फाटक तक साथ लगी आई। फाटक पर घोर युद्ध हुआ। गौरा बादल के नेतृत्व में राजपूत वीर खूब लड़े। अलाउद्दीन अपना सा मुँह लेकर दिल्ली लौट गया, पर इस युद्ध में चित्तौर के चुने चुने वीर काम आए। गौरा भी इस युद्ध में मारा गया। बादल, जो चारणों के अनुसार केवल वारह वर्ष का था, बड़ी वीरता से लड़कर जीता बच गया। उसके मुँह से अपने पति की वीरता का वृत्तांत सुनकर गौरा की स्त्री सती हो गई।

अलाउद्दीन ने संवत् १३४६ ई० (सन् १२६० ई०; पर फरिश्ता के अनुसार सन् १३०३ ई० जो कि ठीक माना जाता है) में फिर चित्तौरगढ़ पर चढ़ाई की। इसी दूसरी चढ़ाई में राणा अपने ग्यारह पुत्रों सहित मारे गए। जब राणा के ग्यारह पुत्र मारे जा चुके और स्वयं राणा के युद्धक्षेत्र में जाने की वारी आई तब पद्मिनी ने जौहर किया। कई सशस्त्र राजपूत ललनाओं के साथ पद्मिनी ने चित्तौरगढ़ के उस गुप्त भूहरे में प्रवेश किया जहाँ उन सती स्त्रियों को अपनी गोद में लेने के लिये आग दहक रही थी। इधर यह कांड समाप्त हुआ उधर वीर भीमसी ने रणक्षेत्र में शरीर त्याग किया।

टाड ने जो वृत्त दिया है वह राजपूताने में रक्षित चारणों के इतिहास के आधार पर है। दो चार व्योरो को छोड़कर ठीक वही वृत्तांत 'आइने अकबरी' में भी दिया हुआ है। आइने अकबरी में रतनसी के मारे जाने का व्योरा भी दूसरे ढंग पर है। आइने अकबरी में लिखा है कि अलाउद्दीन दूसरी चढ़ाई में हारकर लौटा, वह लौटकर चित्तौर से सात कोस तक पहुँचा था कि रुक गया और मैत्री का नया प्रस्ताव भेजकर रतनसी को मिलने के लिये बुलाया। अलाउद्दीन की बार बार की चढ़ाइयों से रतनसी ऊब गया था इससे

उसने मिलना स्वीकार किया। एक विश्वासघाती को साथ लेकर वह अलाउद्दीन से मिलने गया और धोखे से मार डाला गया। उसका संबंधी अरसी चटपट चित्तोर के सिंहासन पर बिठाया गया। अलाउद्दीन चित्तोर की ओर फिर लौटा और उसपर अधिकार किया। अरसी मारा गया और पद्मिनी सब स्त्रियों के सहित सती हो गई।

इन दोनों ऐतिहासिक वृत्तों के साथ जायसी द्वारा बरिणत कथा का मिलान करने से कई बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि जायसी ने जो 'रत्नसेन' नाम दिया है वह उनका कल्पित नहीं है, क्योंकि प्रायः उनके समसामयिक या थोड़े ही पोछे के ग्रंथ आईने अकबरी में भी यही नाम आया है। यह नाम अवश्य इतिहासों में प्रसिद्ध था। जायसी को इतिहास की जानकारी थी। दूसरी बात यह है कि जायसी ने रत्नसेन का मुसलमानों के हाथ से मारा जाना न लिखकर जो देवपाल के साढ़े द्वंद्वयुद्ध में कुंभलनेरगढ़ के नीचे मारा जाना लिखा है उसका आधार शायद विश्वासघाती के साथ बादशाह से मिलने जानेवाला वह प्रवाद हो जिसका उल्लेख आईने अकबरीकार ने किया है।

अपनी कथा को काव्योपयोगी स्वरूप देने के लिये ऐतिहासिक घटनाओं के व्योरो में कुछ फेरफार करने का अधिकार कवि को बराबर रहता है। जायसी ने भी इस अधिकार का उपयोग कई स्थलों पर किया है। सबसे पहले तो उमें राघव चेतन की कल्पना मिलती है। इसके उपरांत अलाउद्दीन के चित्तोरगढ़ के घेरने पर संधि की जो शर्त (समुद्र से पाई हुई पाँच वस्तुओं के देने की) अलाउद्दीन की ओर से पेश की गई वह भी कल्पित है। इतिहास में दर्पण के बीच पद्मिनी की छाया देखने की शर्त प्रसिद्ध है। पर दर्पण में प्रतिबिंब देखने की बात का जायसी ने आकस्मिक घटना के रूप में वर्णन किया है। इतना परिवर्तन कर देने से नायक रत्नसेन के गौरव की पूर्ण रूप से रक्षा हुई है। पद्मिनी की छाया भी दूसरे को दिखाने पर संमत होना रत्नसेन ऐसे पुरुषार्थी के लिये कवि ने अच्छा नहीं समझा। तीसरा परिवर्तन कवि ने यह किया कि अलाउद्दीन के शिविर में बंदी होने के स्थान पर रत्नसेन का दिल्ली में बंदी होना लिखा है। रत्नसेन को दिल्ली में ले जाने से कवि को दूती और जोगिन के वृत्तांत, रानियों के विरह और विलाप तथा गौरा बादल के प्रयत्नविस्तार का पूरा अवकाश मिला है। इस अवकाश के भीतर जायसी ने पद्मिनी के सतीत्व की मनोहर व्यंजना के अनंतर बालक बादल का वह क्षात्र तेज तथा कर्तव्य की कठोरता का वह दिव्य और मर्मस्पर्शी हृदय दिखाया है जो पाठक के हृदय को द्रवीभूत कर देना है। देवपाल और अलाउद्दीन का दूती भोजना तथा बादल और उसकी स्त्री का संवाद, ये दोनों प्रसंग इसी निमित्त कल्पित किए गए हैं। देवपाल कल्पित पात्र है। पीछा करते हुए अलाउद्दीन के चित्तोर पहुँचने के पहले ही रत्नसेन का देवपाल के हाथ से मारा जाना और अलाउद्दीन के हाथ से न पराजित होना दिखाकर कवि ने अपने चरित्रनायक को आन रखी है।

पद्मिनी क्या मन्त्रमुक्त सिंहल की थी? पद्मिनी सिंहलद्वीप की हो नहीं सकती। यदि सिंहल नाम ठीक मानें तो वह राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान होगा। न तो सिंहलद्वीप में चौहान आदि राजपूतों का बस्ती का कोई पता है, न इधर हजार वर्ष से कूपमंडूक बने हुए हिंदुओं के सिंहल द्वीप में जाकर विवाह संबंध करने का। दुनिया जानती है कि सिंहल द्वीप के लोग (तमिल और सिंहली दोनों) कैसे कालेकलूटे होते हैं। वहाँ पद्मिनी स्त्रियों का पाया जाना गोरखपंथी साधुओं की कल्पना है।

नाथपंथ की परंपरा वास्तव में महायान शाखा के योगमार्गी बौद्धों की थी जैसे गोरखनाथ ने शैवरूप दिया। बौद्ध धर्म जब भारतवर्ष से उठ गया तब उसके पास्त्रों के अध्ययन अध्यापन का प्रचार यहाँ न रह गया। सिंहलद्वीप में ही बौद्धशास्त्रों अचछे अचछे पंडित रह गए। इसी से भारतवर्ष के अवशिष्ट योगमार्गी बौद्धों में सिंहल-पेप एक सिद्धपीठ समझा जाता रहा। इसी धारणा के अनुसार गोरखनाथ के अनुयायी भी सिंहलद्वीप को एक सिद्धपीठ मानते हैं। उनका कहना है कि योगियों को पूर्ण सिद्धि-प्राप्त करने के लिये सिंहलद्वीप जाना पड़ता है जहाँ साक्षात् शिव परीक्षा के पीछे सिद्धि-दान करते हैं। पर वहाँ जानेवाले योगियों के शम दम की पूरी परीक्षा होती है। हाँ सुवर्ण और रत्नों की अतुल राशि सामने आती है तथा पद्मिनी स्त्रियाँ अनेक प्रकार से मुभाती हैं। बहुत से योगी उन पद्मिनियों के हाव भाव में फँस, योगभ्रष्ट हो जाते हैं। रहते हैं, गोरखनाथ (वि० संवत् १४०७) के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदरनाथ) जब सिंहलद्वीप में सिद्धि की पूर्णता के लिये गए तब पद्मिनियों के जाल में इसी प्रकार फँस गए। पद्मिनियों ने उन्हें एक कुएँ में डाल रखा था। अपने गुरु की खोज में गोरखनाथ भी सिंहल गए और उसी कुएँ के पास से होकर निकले। उन्होंने अपने गुरु की आवाज पहचानी और कुएँ के किनारे खड़े होकर बोले 'जाग मछंदर; गोरख आया।' इसी प्रकार ही और भी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं।

अब पद्मावत की पूर्वार्ध कथा के संबंध में एक और प्रश्न यह होता है कि वह जायसी द्वारा कल्पित है अथवा जायसी के पहले से कहानी के रूप में जनसाधारण के बीच प्रचलित चली आती है। उत्तर भारत में, विशेषतः अवध में, 'पद्मिनी रानी' और 'हीरामन सूए' की कहानी अबतक प्रायः उसी रूप में कही जाती है, जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है। जायसी इतिहासविज्ञ थे इससे उन्होंने रत्नसेन, प्रलाउद्दीन आदि नाम लिए हैं; पर कहानी कहनेवाले नाम नहीं लेते हैं; केवल यही रहते हैं कि 'एक राजा था, दिल्ली का एक बादशाह था' इत्यादि। यह कहानी बीच-बीच में गा गाकर कही जाती है। जैसे, राजा की पहली रानी जब दर्पण में अपना मुँह देखती है तब सूए से पूछती है—

देस देस तुम फिरो, हो सुअटा ! मोरे रूप और कहुँ कोई ?

सूआ उत्तर देता है—

काह बखानौँ सिंहल कै रानी । तोरे रूप भरे सब पानी ।

इसी प्रकार 'बाला लखनदेव' आदि की और रसात्मक कहानियाँ अवध में प्रचलित हैं जो बीच में गा गाकर कही जाती हैं।

इस संबंध में हमारा अनुमान यह है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म व्योरो की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुंदर स्वरूप दिया है। इस 'मनोहर कहानी' को कई लोगों ने काव्य के रूप में बाँधा। हुसैन गजनवी ने 'किस्साए पद्मावत' नाम का एक फारसी काव्य लिखा। सन् १६५२ ई० में रायगोविंद मुंशी ने पद्मावत की कहानी फारसी गद्य में 'तुक फतुल कुलूब' के नाम से लिखी। उनके पीछे मीर जिआउद्दीन 'इब्रत' और गुलाम अली 'इशरत' ने मिलकर सन् १७६६ ई० में उर्दू

शेरों में इस कहानी को लिखा । मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी 'पद्मावत' सन् १५२० ई० में लिखी थी ।

'पद्मावत' की प्रेमपद्धति—'पद्मावत' की जो आख्यायिका ऊपर दी जा चुकी है उससे स्पष्ट है कि वह एक प्रेमकहानी है । अब संक्षेप में यह देखना चाहिए कि कवियों में दांपत्य प्रेम का आविर्भाव वर्णन करने की जो प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनमें से पद्मावत में वर्णित प्रेम किसके अंतर्गत आता है ।

(१) सबसे पहले उस प्रेम को लीजिए जो आदिकाव्य रामायण में दिखाया गया है । इसका विकास विवाहसंबंध हो जाने के पीछे और पूर्ण उत्कर्ष जीवन की विकट स्थितियों में दिखाई पड़ता है । राम के वन जाने की तैयारी के साथ सीता के प्रेम का स्फुरण होता है । सीताहरण होने पर राम के प्रेम की कांति सहसा फूटती हुई दिखाई पड़ती है । वन के जीवन में इस पारस्परिक प्रेम की आनंदविधायिनी शक्ति लक्षित होती है और लंका की चढ़ाई में इसका तेज, साहस और पीरूप । यह प्रेम अत्यंत स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल है । यह विलासिता या कामुकता के रूप में हमारे सामने नहीं आता, बल्कि मनुष्य जीवन के बीच एक मानसिक शक्ति के रूप में दिखाई पड़ता है । उभय पक्ष में सम होने पर भी नायक पक्ष में यह कर्तव्यबुद्धि द्वारा कुछ संयत दिखाई पड़ता है ।

(२) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह के पूर्व का होता है, विवाह जिसका फल-स्वरूप होता है । इसमें नायक नायिका संसारक्षेत्र में घूमते फिरते हुए कहीं—जैसे, उपवन, नदीतट, वीथी इत्यादि में—एक दूसरे को देख मोहित होते हैं और दोनों में प्रीति हो जाती है । अधिकतर नायक की ओर से नायिका की प्राप्ति का प्रयत्न होता है । इसी प्रयत्नकाल में संयोग और विप्रलंब दोनों के अवसरों का संनिवेश रहता है और विवाह हो जाने पर प्रायः कथा की समाप्ति हो जाती है । इसमें कहीं बाहर घूमते फिरते साक्षात्कार होता है । इसमें मनुष्य के आदिम प्राकृतिक जीवन की स्वाभाविकता बनी रहती है । अभिमानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशी आदि की कथा इसी प्रकार की हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने सीता और राम के प्रेम का आरंभ विवाह से पूर्व दिखाने के लिये ही उनका जनक की वादिका में परस्पर साक्षात्कार कराया है । पर साक्षात्कार और विवाह के बीच के थोड़े से अवकाश में परशुरामवाले भ्रमले को छोड़ प्रयत्न का कोई विस्तार दिखाई नहीं पड़ता । अतः रामकथा को इस दूसरे प्रकार की प्रेमकथा का स्वरूप न प्राप्त हो सका ।

(३) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय प्रायः राजाओं के अंतःपुर, उद्यान आदि के भोगविलास या रंगरहस्य के रूप में दिखाया जाता है, जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास परिहास और राजाओं की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है । उत्तरकाल के संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार के पीरूपहीन, निःसार और विलासमय प्रेम का प्रायः वर्णन हुआ है; जैसे—रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी इत्यादि में । इसमें नायक को कहीं बाहर वन, पर्वत, आदि के बीच में नहीं जाना पड़ता है; उसे घर के भीतर ही लुकता छिपता चौकड़ी भरता दिखाया गया है ।

(४) चौथे प्रकार का वह प्रेम है जो गुणश्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन आदि से बड़े विठाए उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को संयोग के लिये प्रयत्नवान्

करता है। उषा और अनिरुद्ध का प्रेम इसी प्रकार का समझिए, जिसमें प्रयत्न स्त्रीजाति की ओर से होने के कारण वह कुछ अधिक विस्तार या उत्कर्ष नहीं प्राप्त कर सका है। पर स्त्रियों का प्रयत्न भी यह विस्तार या उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। इसकी सूचना भारतेंदु ने 'पगन में छाले परे नाँघिबे को नाले परे, तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के' द्वारा दी है।

इन चार प्रकार के प्रेमों का वर्णन नए और पुराने भारतीय साहित्य में है। ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन दिन क्षीण होने, विरहताप में भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के वर्णन में कवियों का जी उतना नहीं लगा है। बात यह है कि स्त्रियों की शृंगारचेष्टा का वर्णन करने में पुरुषों को जो आनंद आता है, वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नहीं, इसी से स्त्रियों का विरह-वर्णन तो काव्य का एक प्रधान अंग ही बन गया। ऋतुवर्णन तो केवल इसी की बदौलत रह गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जायसी ने पद्मावत में जिस प्रेम का वर्णन किया है वह चौथे ढंग का है। पर इसमें वे कुछ विशेषता भी लाए हैं। जायसी के शृंगार में मानसिक पक्ष प्रधान है, शारीरिक गौरव है। चुंबन, आलिंगन आदि का वर्णन कवि ने बहुत कम किया है, केवल मन के उल्लास और वेदना का कथन अधिक किया है। प्रयत्न नायक की ओर से है और उसकी कठिनता द्वारा कवि ने नायक के प्रेम को नापा है। नायक का यह आदर्श लैला मजनूँ, शीरीं फरहाद आदि उन अरबी फारसी कहानियों के आदर्श से मिलता जुलता है, जिसमें हड्डी की ठठरी भर लिए हुए टाँकियों से पहाड़ खोद डालनेवाले आशिक पाए जाते हैं। फारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई पड़ता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का। जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है। राजा रत्नसेन सूए के मुँह से पद्मावती का रूपवर्णन सुन योगी होकर घर से निकल जाता है और मार्ग के अनेक दुःखों को भेलता हुआ सात समुद्र पार करके सिंहाल-द्वीप पहुँचता है। उधर पद्मावती भी राजा के प्रेम को सुन विरहाग्नि में जलती हुई साक्षात्कार के लिये विद्वल होती है और जब रत्नसेन को मूली की आज्ञा होती है तब उसके लिये मरने को तैयार होती है।

एक प्रकार का और मेल भी कवि ने किया है। फारसी की मसनवियों का प्रेम ऐकांतिक, लोकबाह्य और आदर्शात्मक (आईडियलिस्टिक) होता है। वह संसार की वास्तविक परिस्थिति के बीच नहीं दिखाया जाता, संसार की और सब बातों से अलग एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में दिखाया जाता है। उसमें जो घटनाएँ आती हैं वे केवल प्रेम-मार्ग की होती हैं, संसार के और व्यवहारों से उत्पन्न नहीं। साहम, दृढ़ता और वीरता भी यदि कहीं दिखलाई पड़ती है तो प्रेमोन्माद के रूप में, लोककर्तव्य के रूप में नहीं। भारतीय प्रेमपद्धति आदि में तो लोकसंबद्ध और व्यवहारात्मक थी ही, पीछे भी अधिकतर वैसी ही रही। आदिकवि के काव्य में प्रेम लोकव्यवहार से कहीं अलग नहीं दिखाया गया है; जीवन के और और विभागों के सौंदर्य के बीच उसके सौंदर्य की प्रभा फूटती दिखाई पड़ती है। राम के समुद्र में पुल बाँधने और रावण ऐसे प्रचंड शत्रु को मार गिराने को हम

केवल एक प्रेमी के प्रयत्न के रूप में नहीं देखते, वीरघर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न के रूप में देखते हैं। पीछे कृष्णचरित्र, कादंबरी, नैषधीय चरित, माधवानल काम-कंदला आदि ऐकांतिक प्रेमकहानियों का भी भारतीय साहित्य में प्रचुर प्रचार हुआ। ये कहानियाँ अरब और फारस की प्रेमपद्धति के अधिक मेल में थीं। नलदमयंती की प्रेम-कहानी का अनुवाद बहुत पहले फारसी क्या अरबी तक में हुआ। इन कहानियों का उल्लेख पद्मावत में स्थान स्थान पर हुआ है।

जायसी ने यद्यपि इश्क के दास्तानवाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधान रखा है, तथापि बीच बीच में भारत के लोक-व्यवहार-संलग्न स्वरूप का भी मेल किया है। इश्क की मसनवियों के समान 'पद्मावत' लोकपक्षशून्य नहीं है। राजा योगी होकर घर से निकलता है, इतना कहकर कवि यह भी कहता है कि चलते समय उसकी माता और रानी दोनों उसे रो रोकर रोकती हैं। जैसे कवि ने राजा के संयोग होने पर पद्मावती के रसरंग का वर्णन किया है वैसे ही सिंहलद्वीप से विदा होते समय परिजनों और सखियों से अलग होने का स्वाभाविक दुःख भी। कवि ने जगह जगह पद्मावती को जैसे चंद्रकमल इत्यादि के रूप में देखा है वैसे ही उसे प्रथम समागम से डरते, सपत्नी के भगड़े और प्रिय के हित के अनुकूल लोकव्यवहार करते भी देखा है। राघव चेतन के निकाले जाने पर राजा और राज्य के अनिष्ट की आशंका से पद्मावती उस ब्राह्मण को अपना खास कंगन दान देकर संतुष्ट करना चाहती है। प्रेम का लोकपक्ष कैसा सुंदर है ! लोकव्यवहार के बीच भी अपनी आभा का प्रसार करनेवाली प्रेमज्योति का महत्व कुछ कम नहीं।

जायसी ऐकांतिक प्रेम की गूढ़ता और गंभीरता के बीच बीच में जीवन के और अंगों के साथ भी उस प्रेम के संपर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं, इससे उनकी प्रेमगाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। उसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है। पर है वह प्रेमगाथा ही, पूर्ण जीवनगाथा नहीं। ग्रंथ का पूर्वार्ध—आधे से अधिक भाग—तो प्रेममार्ग के विवरण से ही भरा है। उत्तरार्ध में जीवन के और और अंगों का संनिवेश मिलता है; पर वे पूर्णतया परिस्फुट नहीं हैं। दांपत्य प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियाँ, जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है वे यात्रा, युद्ध, सपत्नीकलह, मातृस्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व हैं। पर इनके होते हुए भी 'पद्मावत' को हम शृंगारप्रधान काव्य ही कह सकते हैं। 'रामचरित' के समान मनुष्यजीवन की भिन्न भिन्न बहुत सी परिस्थितियों और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है।

तोते के मुँह से पद्मावती का रूपवर्णन सुनने से राजा रत्नसेन को जो पूर्वराग हुआ अब उसपर थोड़ा विचार कीजिए। देखने में तो वह उसी प्रकार का जान पड़ता है जिम प्रकार का हंस के मुँह से दमयंती का रूपवर्णन सुनकर नल को या नल का दर्शन सुनकर दमयंती को हुआ था। पर ध्यान देकर विचार करने से दोनों में एक ऐसा अंतर दिखाई पड़ेगा, जिसके कारण एक की तीव्रता जितनी अयुक्त दिखाई देगी उतनी दूसरे की नहीं। पूर्वराग में ही विप्रलंब शृंगार की बहुत सी दशाओं की योजना श्रीहर्ष ने भी की है और जायसी ने भी। पूर्वराग पूर्णरति नहीं है, अतः उसमें केवल 'अभिलाषा' स्वाभाविक जान पड़ती है; शरीर का सूखकर काँटा होना, मूर्छा, उन्माद आदि नहीं। तोते

के मुँह से पहले ही पहल पद्मावती का वर्णन सुनते ही रत्नसेन का मूर्च्छित हो जाना और पूर्ण वियोगी बन जाना अस्वाभाविक सा लगता है। पर हंस के मुँह से रूप गुण, आदि की प्रशंसा सुनने पर जो विरह की दारुण दशा दिखाई गई है वह इसलिये अधिक खटकती नहीं कि नल और दमयंती दोनों बहुत दिनों से एक दूसरे के गुण की प्रशंसा सुनते आ रहे थे, जिससे उनका पूर्वराग 'मंजिष्ठा राग' की अवस्था को पहुँच गया था।

जब तक पूर्वराग आगे चलकर पूर्ण रति या प्रेम के रूप में परिणत नहीं होता, तब तक उसे हम चित्त की कोई उदात्त या गंभीर वृत्ति नहीं कह सकते। हमारी समझ में तो दूसरे के द्वारा, चाहे वह चिड़िया हो या आदमी, किसी पुरुष या स्त्री के रूप गुण आदि को सुनकर चट उसकी प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करनेवाला भाव लोभ मात्र कहला सकता है, परिपुष्ट प्रेम नहीं। लोभ और प्रेम के लक्ष्य में समान्य और विशेष का ही अंतर समझा जाता है। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना, यह लोभ है। कोई विशेष वस्तु—चाहे दूसरों के निकट वह अच्छी हो या बुरी, देख उसमें इस प्रकार रम जाना कि उससे कितनी ही बढ़कर अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उनकी ओर ध्यान न जाय; प्रेम है। व्यवहार में भी प्रायः देखा जाता है कि वस्तुविशेष के ही प्रति जो लोभ होता है वह लोभ नहीं कहलाता। जैसे कोई मनुष्य पकवान या मिठाई का नाम सुनाते ही चंचल हो जाय तो लोग कहेंगे कि वह बड़ा लालची है, पर यदि कोई केवल गुलावजामुन का नाम आने पर चाह प्रकट करे तो लोग यही कहेंगे कि इसे गुलावजामुन बहुत अच्छी लगती है। तत्काल सुने हुए रूपवर्णन से उत्पन्न 'पूर्वराग' और 'प्रेम' में भी इसी प्रकार का अंतर समझिए। पूर्वराग रूप-गुण-प्रधान होने के कारण सामान्योन्मुख होता है। प्रेम व्यक्तिप्रधान होने के कारण विशेषोन्मुख होता है। एक ने आकर कहा, अमुक सुंदर है, फिर कोई दूसरा आकर कहता है कि अमुक नहीं अमुक सुंदर है। इस अवस्था में बुद्धि का व्यभिचार बना रहेगा। प्रेम में पूर्ण व्यभिचार को शांति प्राप्ति हो जाती है।

कोई वस्तु बहुत बढ़िया है, जैसे यह सुनकर हमें उसका लोभ हो जाता है, वैसे ही कोई व्यक्ति बहुत सुंदर है, इतना सुनते ही उसकी जो चाह उत्पन्न हो जाती है वह साधारण लोभ से भिन्न नहीं कही जा सकती। प्रेम भी लोभ ही है, पर विशेषोन्मुख। वह मन और मन के बीच का लोभ है, हृदय और हृदय के बीच का संबंध है। उसके एक पक्ष में भी हृदय है और दूसरे पक्ष में भी। अतः सच्चा सजीव प्रेम प्रेमपाल के हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न पहले करता है, शरीर पर अधिकार करनेका प्रयत्न पीछे करता है, या नहीं भी करता है। सुंदर स्त्री कोई बहुमूल्य पत्थर नहीं है कि अच्छा सुना और लेने के लिये दौड़ पड़े। इस प्रकार का दौड़ना रूपलोभ ही कहा जायगा, प्रेम नहीं।

बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यह परिचय पूर्णतया तो साक्षात्कार से होता है, पर बहुत दिनों तक किसी के रूप, गुण, कर्म आदि का ब्यौरा सुनते सुनते भी उसका ध्यान मन में जगह कर लेता है। किसी के रूप गुण की प्रशंसा सुनते ही एक-बारगी प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। प्रेम दूसरों की आँखों नहीं देखता, अपनी आँखों देखता है। अतः राजा रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का अलौकिक रूपवर्णन सुन, जिस भावप्रेरणा से निकल पड़ता है वह पहले रूपलोभ ही कहा जा

सकता है। इस दृष्टि से देखने पर कवि जो उसके प्रयत्न को तप का स्वरूप देता हुआ आत्मत्याग और विरहविह्वलता का विस्तृत वर्णन करता है वह एक नकल सी मालूम होती है। प्रेमलक्षण उस समय दिखाई पड़ता है जब वह शिवमंदिर में पद्मावती की भूलक देख वेसुध हो जाता है। इस प्रेम की पूर्णता उस समय स्फुट होती है जब पार्वती अप्सरा का रूप धारण करके उसके सामने आती है और वह उनके रूप की ओर ध्यान न देकर कहता है कि—

भलेहि रंग अछरी तोर राता। मोहि दूसरे साँ भाव न वाता।

उक्त कथन में रूपलोभ की व्यंजना नहीं होती, प्रेम की व्यंजना होती है। प्रेम दूसरा रूप चाहता ही नहीं, चाहे वह प्रेमपात्र के रूप से कितना ही बढ़कर हो। लैला कुछ बहुत खूबसूरत न थी, मजनूँ उसी पर मरता था। यही विशिष्टता और एकनिष्ठता प्रेम है। पर इस विशिष्टता के लिये एक निदिष्ट भावना चाहिए, जो एक तोते के वर्णन मात्र से नहीं प्राप्त हो सकती। भावना को निदिष्ट करने के लिये मनस्तत्व से अभिन्न कवि पूर्वरंग के बीच चित्रदर्शन की योजना करते हैं। पर यह रूपभावना पूर्ण रूप से निदिष्ट साक्षात्कार द्वारा ही होता है। शिवमंदिर में पद्मावती की एक भूलक जब राजा ने देखी तभी उसकी भावना निदिष्ट हुई। मंदिर में उस साक्षात्कार के पूर्व राजा की भावना निदिष्ट नहीं कही जा सकती है। मान लीगिए कि सिंहल के तट पर उतरते ही वही अप्सरा आकर कहती कि मैं ही पद्मावती हूँ और तोता भी सकारता तो रत्नसेन उसे स्वीकार ही कर लेता। ऐसी अवस्था में उसके प्रेम का लक्ष्य निदिष्ट कैसे कहा जा सकता है? अतः रूपवर्णन सुनते ही रत्नसेन के प्रेम का जो प्रवल और अदम्य स्वरूप दिखाया गया है वह प्राकृतिक व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ता।

राजा रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का रूपवर्णन सुन उसके लिये योगी होकर निकल पड़ा और अलाउद्दीन ने राघव चेतन के मुँह से वैसा ही वर्णन सुन करके उसके लिये चित्तीर पर चढ़ाई कर दी। क्यों एक प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है और दूसरा रूपलोभी लंपट के रूप में? अलाउद्दीन के विपक्ष में दो बातें ठहरती हैं—(१) पद्मावती का दूसरे की विवाहिता स्त्री होना और (२) अलाउद्दीन का उग्र प्रयत्न करना। ये ही दोनों प्रकार के अनीचित्य अलाउद्दीन की चाह को प्रेमस्वरूप प्राप्त नहीं होने देते। यदि इस अनीचित्य का विचार छोड़ दें तो रूपवर्णन सुनते ही तत्काल दोनों के हृदय में जो चाह उत्पन्न हुई वह एक दूसरे से भिन्न नहीं जान पड़ती।

रत्नसेन के पूर्वरंग के वर्णन में जो यह अस्वाभाविकता आई है इसका कारण है लौकिक प्रेम और ईश्वरीय प्रेम दोनों को एक साथ व्यंजित करने का प्रयास। शिष्य जिस प्रकार गुरु से परोक्ष ईश्वर के स्वरूप का कुछ आभास पाकर प्रेममग्न होता है उसी प्रकार रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मिनी का रूपवर्णन सुन वेसुध हो जाता है। ऐसी ही अलौकिकता पद्मिनी के पक्ष में भी कवि ने दिखाई है।

राजा रत्नसेन के सिंहल पहुँचते ही कवि ने पद्मावती की वेचैनी का वर्णन किया है। पद्मावती को अभी तक रत्नसेन के आने की कुछ भी खबर नहीं है अतः यह व्याकुलता केवल काम की कही जा सकती है, वियोग की नहीं। बाह्य या आभ्यंतर संयोग के पीछे ही वियोगदशा संभव है। यद्यपि आचार्यों ने वियोगदशा को कामदशा ही कहा है, तथापि दोनों में अंतर है। समागम के सामान्य अभाव का दुःख कामवेदना है और विशेष

व्यक्ति के समागम के अभाव का दुःख वियोग है। जायसी के वर्णन में दोनों का मिश्रण है। रत्नसेन का नाम तक सुनने के पहले वियोग की व्याकुलता कैसे हुई, इसका समाधान कवि के पास यदि कुछ है तो रत्नसेन के योग का अलक्ष्य प्रभाव—

पद्मावती तेहि जोग सँयोगा । परी प्रेमवस गहे वियोगा ।

साधनात्मक रहस्यवाद योग जिस प्रकार अज्ञात ईश्वर के प्रति होता है उसी प्रकार सूफियों का प्रेमयोग भी अज्ञात के प्रति होता है। पर इस प्रकार के परोक्षवाद या योग के चमत्कार पर ध्यान जाने पर भी वह वर्णन के अनौचित्य की ओर विना गए नहीं रह सकता। जब कोई व्यक्ति निदिष्ट ही नहीं तब कहाँ का प्रेम और कहाँ का वियोग ? उस कामदशा में पद्मावती को धाय समझा रही है कि हीरामन सूआ आकर राजा रत्नसेन के रूप गुण का वर्णन करता है और पद्मावती उसकी प्रेमव्यथा और तप सुनकर दयार्द्र और पूर्वरोगयुक्त होती है। पूर्वरोग का आरंभ पद्मावती में वहाँ से समझना चाहिए। अतः इसके पहले योग की दुहाई देकर भी वियोग का नाम लेना ठीक नहीं जँचता।

विवाह हो जाने के पीछे पद्मावती का प्रेम दो अवसरों पर अपना बल दिखाता है। एक तो उस समय जब राजा रत्नसेन के दिल्ली में बंद होने का समाचार मिलता है और फिर उस समय जब राजा युद्ध में मारा जाता है। ये दोनों अवसर विपत्ति के हैं। साधारण दृष्टि से एक में आशा के लिये स्थान है, दूसरे में नहीं। पर सच्चे पहुँचे हुए प्रेमी के समान प्रथम स्थिति में तो पद्मावती संसार की ओर दृष्टि रखती हुई विह्वल और क्षुब्ध दिखाई पड़ती है, और दूसरी स्थिति में दूसरे लोक की ओर दृष्टि फेर दिए पूर्ण आनंदमयी और प्रशांत। राजा के बंदी होने का समाचार पाने पर रानी के विरहविह्वल हृदय में उद्योग और साहस का उदय होता है। वह गोरा वादल के पास आप दौड़ी जाती है और रो रोकर उनसे अपने पति के उद्धार की प्रार्थना करती है। राजा रत्नसेन के मरने पर रोना धोना नहीं सुनाई देता। नागमती और पद्मावती दोनों शृंगार करके प्रिय से उस लोक में मिलने के लिये तैयार होती हैं। यह दृश्य हिंदू स्त्री के जीवनदीपक की अत्यंत उज्वल और दिव्य प्रभा है, जो निर्वाण के पूर्व दिखाई पड़ती है।

राजा के बंदी होने पर जिस प्रकार कवि ने पद्मावती के प्रेमप्रसूत साहस का दृश्य दिखाया है उसी प्रकार सतीत्व की दृढ़ता का भी। पर यह कहना पड़ता है कि कवि ने जो कसौटी तैयार की है वह इतने बड़े प्रेम के उपयुक्त नहीं हुई है। कुंभलनेर का राजा देवपाल रूप, गुण, ऐश्वर्य, पराक्रम, प्रतिष्ठा किसी में रत्नसेन की बराबरी का न था। अतः उसका दूती भेजकर पद्मावती को वहकाने का प्रयत्न गड़ा हुआ खंभा ढकेलने का बाल-प्रयत्न सा लगता है। इस घटना के संनिवेश से पद्मावती के सतीत्व की उज्वल कांति में और अधिक ओप चढ़ती दिखाई नहीं देती। यदि वह दूती दिल्ली के वादशाह की होती और दिल्लीश्वर की सारी शक्ति और विभूति का लोभ दिखाती तो अलवत यह घटना किसी हद तक इतने बड़े प्रेम की परीक्षा का पद प्राप्त कर सकती थी, क्योंकि देवलदेवी और कमलादेवी के विपरीत आचरण का दृष्टांत इतिहासविज्ञ जानते ही हैं।

पद्मावती के नवप्रस्फुटित प्रेम के साथ नागमती का गार्हस्थ्यपरिपुष्ट प्रेम भी अत्यंत मनोहर है। पद्मावती प्रेमिका के रूप में ही अधिक लक्षित होती है, पर नागमती पतिप्राणा हिंदू पत्नी के मधुर रूप में हमारे सामने आती है। उसे हम रूपगविता और प्रेमगविता के रूप में देखते हैं। दोनों प्रकार के गर्व दांपत्य सुख के द्योतक हैं। राजा के

निकल जाने के पीछे फिर हम उसे प्रोपितपतिका के उस निर्मल स्वरूप में देखते हैं जिसका भारतीय काव्य और संगीत में प्रधान अधिकार रहा है, और है। यह देखकर अत्यंत दुःख होता है कि प्रेम का यह पुनीत भारतीय स्वरूप विदेशी प्रभाव से—विशेषतः उर्दू शायरी के चलते गीतों से—हटा जा रहा है। यार, महबूब, सितम, तेग, खंजर, जहम, आवले, खून और मवाद आदि का प्रचार बढ़ रहा है। जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया के पुनीत प्रेम के सांदर्य को पहचाना। नागमती का वियोग हिंदी साहित्य में विप्रलभ शृंगार का अत्यंत उत्कृष्ट निरूपण है।

पुरुषों के बहुविवाह की प्रथा में उत्पन्न प्रेममार्ग की व्यावहारिक जटिलता को जिस दार्शनिक ढंग से कवि ने सुलभाया है वह ध्यान देने योग्य है। नागमती और पद्मावती को भगड़ते सुनकर दक्षिण नायक राजा रत्नसेन दोनों को समझाता है—

एक बार जेई पिय मन वूझा । सां हूसरे साँ काहे क जूझा ॥
 ऐसी जान मन जान न कोई । कवहूँ रात कवहूँ दिन होई ॥
 धूप छाँह दूनी एक रंगा । दूनी मिले रहहि एक संगी ॥
 जूझव छाँड़हु, वूझहु दोऊ । मेव करहु सेवा फल होऊ ॥

कवि के अनुसार जिस प्रकार करोड़ों मनुष्यों का उपास्य एक ईश्वर होता है उसी प्रकार कई स्त्रियों का उपास्य एक पुरुष हो सकता है। पुरुष की यह विशेषता उसकी सफलता और उच्च स्थिति की भावना के कारण है, जो बहुत प्राचीन काल के बद्धमूल है। इस भावना के अनुसार पुरुष स्त्री के प्रेम का ही अधिकारी नहीं है, पूज्य भाव का भी अधिकारी है। ऊपर की चौपाइयों में पति पत्नी के पारस्परिक प्रेमसंबंध की बात बचाकर सेव्य-सेवक-भाव पर जोर दिया गया है। इसी प्रकार की युक्तियों से पुरानी रीतियों का समर्थन प्रायः किया जाता है। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों में कई स्त्रियों से विवाह करने की रीति बराबर न है। अतः एक प्रेमगाथा के भीतर ही जायसी ने उसका संनिवेश करके बड़े कौशल से उसके द्वारा मतसंबंधी विवादशांति का उपदेश निकाला है।

वियोग पक्ष—जायसी का विरहवर्णन कहीं कहीं अत्यंत अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है, उसमें गांभीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ वात की करामत नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यंत तीव्र वेदना के शब्दसंकेत प्रतीत होतीं हैं। उनके अंतर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देनेवाले होते हैं, बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापनेवाले मानदंड मात्र नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करनेवाले, शरीर पर रखे हुए कमल के पत्तों को भूनकर पापड़ बना डालनेवाले, वातल का गुलाबजल सुखा डालनेवाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है, पर उन्होंने उसके वेनात्मक और दृश्य अंश पर जितनी दृष्टि रखी है, उतनी उमका वाहरी नाप जोख पर नहीं, जो प्रायः ऊहात्मक हुआ करती है। नापजोखवाती ऊहात्मक पद्धति का जायसी ने कुछ ही स्थानों पर प्रयोग किया है; जैसे राजा का प्रेमपत्रिका के इस वर्णन में—

आखर जरहि न काहूँ लूआ । तव दुख देखि चला लेई सूआ ॥
 अतः नागमती के विरहनाप की व्यंजना में—

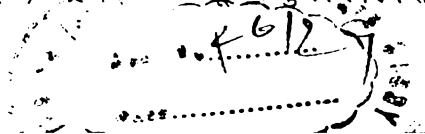
जेहि पंखी के नियर होई, कहै विरह कै वात ।
 सोई पंखी जाइ जरि, तग्विर होहि निपात ॥

इस ऊहात्मक पद्धति का दो चार जगह व्यवहार चाहे जायसी ने किया हो पर अधिकतर विरहताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यंत विशुद्ध व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। इन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर अधिकांश संवेदना के स्वरूप में है, परिमाण-निर्देश के रूप में नहीं है। संवेदना का यह स्वरूप उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त किया गया है। अत्युक्ति या अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा में सिद्ध और साध्य का भेद होता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसान साध्य (संभावना या संवेदना के रूप में) होता है और अत्युक्ति या अतिशयोक्ति में सिद्ध। 'धूप ऐसी है कि रखते रखते पानी खौल जाता है' यह वाक्य मात्रा का आधिक्य मात्र सूचित करता है। मात्रा के आधिक्य का निरूपण ऊहा द्वारा कुछ चक्कर के साथ भी हो सकता है, जैसा कि विहारी ने प्रायः किया है। पर यह पद्धति काव्य के लिये सर्वत्र उपयुक्त नहीं। लाक्षणिक प्रयोगों को लेकर कुछ कवियों ने ऊहा पर जो विस्तार किया है वह अस्वाभाविक, नीरस और भटा हो गया है। वह 'कुल का दीपक है' इस बात को लेकर यदि कोई कहे कि 'उमके घर तेल के खर्च की विल्कुल बचत होती है' तो इस उक्ति में कवित्व की कुछ भी सरसता न पाई जायगी। विहारी का 'पत्ता ही तिथि पाइए' वाला दोहा इसी प्रकार का है। अस्तु 'धूप ऐसी है कि रखते रखते पानी खौल जाता है' यह कथन ऊहा द्वारा मात्रानिरूपण के रूप में हुआ। यही बात यदि इस प्रकार कही जाय कि 'धूप क्या है मानो चारों ओर आग बरस रही है' तो यह संवेदना के रूप में कहा जाना होगा। पहले कथन में ताप की मात्रा का आधिक्य व्यंग्य है, दूसरे में उस ताप से उत्पन्न हृदय की वेदना। एक में वस्तु व्यंग्य है, दूसरे में संवेदना। पहला वाक्य बाह्य-वृत्ति का व्यंजक है और दूसरा आभ्यन्तर अनुभूति का। मतलब यह है कि जायसी ने यह कम कहा है कि विरहताप इतनी मात्रा का है, यह अधिक कहा है कि ताप हृदय में ऐसा जान पड़ता है, जैसे—

- (क) जानहुँ अगिनि के उठहि पहारा। औ सब लागहि अंग अँगारा ॥
 (ख) जरत बजागिनि करु, पिउ, छाहाँ। आई बुभाउ, अँगारन्ह माहाँ ॥
 (ग) लागउँ जरै, जरै जँस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिउँ न वारू ॥

'फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न वारू'। भाड़ की तपती बालू के बीच पड़ा हुआ अनाज का दाना जैसे बार बार भूने जाने पर उछल उछल पड़ता है पर उस बालू से बाहर नहीं जाता उसी प्रकार इस प्रेमजन्य संताप के अतिरेक से मेरा जी हट हटकर भी उस संताप के सहने को बुरी लत के कारण उसी की ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रिय का ध्यान आते ही चित्त ताप से विह्वल हो जाता है फिर भी वह बार बार उसी का ध्यान करता रहता है। प्रेमदशा चाहे घोर यंत्रणामय हो जाय पर हृदय उस दशा से अलग होना नहीं चाहता। यहाँ इसी विलक्षण स्थिति का चित्रण है। यहाँ हम कवि को वेदना के स्वरूपविश्लेषण में प्रवृत्त पाते हैं, ताप की मात्रा नापने में नहीं। मात्रा की नाप तो बाहर बाहर से भी हो सकती है, पर प्रेमवेदना के आभ्यन्तर स्वरूप की पहचान प्रेमवेदना-पूर्ण हृदय में ही हो सकती है। जायसी का ऐसा ही हृदय था। विरहताप का वर्णन कवि ने अधिकतर सादृश्य-संबंध-मूलक गौणी लक्षणाद्वारा किया है—

आधिक्य या न्यूनता सूचित करने के लिये ऊहात्मक या वस्तुव्यंजनात्मक शैली का विधान कवियों में तीन प्रकार से देखा जाता है,— (१) ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कविप्रौढोक्ति सिद्ध है। (२) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वतः-



संभवी है और किसी प्रकार की कल्पना नहीं की गई है। (१) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य है। पर उसके हेतु की कल्पना की गई है।

इनमें से प्रथम प्रकार के उदाहरण वे हैं, जिन्हें विहारी ने विरहताप के वर्णन में दिए हैं—जैसे पड़ोसियों को जाड़े की रात में भी बेचैन करनेवाला, या बोटल में भरे गुलाबजल को सुखा डालनेवाला ताप; दूसरे प्रकार का उदाहरण एक स्थल पर जायसी ने बहुत अच्छा दिया है, पर वह विरहताप के वर्णन में नहीं है, काल की दीर्घता के वर्णन में है। आठ वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घेरे रहा। इस बात को एक बार तो कवि ने साधारण इतिवृत्त के रूप में कहा, पर उससे वह गोचर प्रत्यक्षीकरण न हो सका, जिसका प्रयत्न काव्य करता है। आठ वर्ष के दीर्घत्व के अनुमान के लिये फिर उसने यह दृश्य आधार सामने रखा—

आइ साह अमराव जो लाए । फरे, भरे, पै गढ़ नहिं पाए ॥

सत्र पूछिए तो वस्तुव्यंजनात्मक या ऊहात्मक पद्धति का इसी रूप में अवलंबन सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इसमें अनुमान का आधार सत्य या स्वतःसंभवी है। जायसी अनुमान या ऊहा के आधार के लिये ऐसी वस्तु सामने लाए हैं, जिसका स्वरूप प्राकृतिक है और जिसमें सामान्यतः सब लोग परिचित होते हैं। इसी प्रकार एक गीत में एक वियोगिनी नायिका कहती है कि 'मिरा प्रिय दरवाजे पर जो नीम का पेड़ लगा गया था, वह बढ़कर अब फूल रहा है, पर प्रिय न लौटा'। आधार के सत्य और प्राकृतिक स्वरूप के कारण इस उक्ति से कितना भोलापन बरस रहा है।

विरहताप की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिये जहाँ कहीं जायसी ने ऊहात्मक या वस्तुव्यंजनात्मक शैली का अवलंबन किया है, वहाँ अधिकतर तीसरे प्रकार का विधान ही देखने में आता है जिसमें ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य और स्वतःसंभवी होता है पर उसके हेतु की कुछ और ही कल्पना की जाती है। इस प्रकार का विधान भी प्रथम प्रकार के विधान से अधिक उपयुक्त होता है। इसमें हेतुप्रेक्षा का सहारा लिया जाता है जिसमें 'अप्रस्तुत' वस्तुओं का गृहीत दृश्य वास्तविक होता है, केवल उसका हेतु कल्पित होता है। हेतु परोक्ष हुआ करता है इससे उसकी अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती। इस युक्ति से कवि विरहताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाना बढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है। एक उदाहरण काफी होगा—

अम परजरा विरह कर गटा । मेघ साम भए धूम जो उठा ॥
दाहा राहु, केतु गा दाधा । सूरज जरा, चाँद जरि आधा ॥
औं सवे नखन तराई जरही । टूटहि लूक, धरति महीं परही ॥
जरे सो धरती ठावहिं ठाऊँ । दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ ॥

इन चौपाइयों में मेघों का श्याम होना, राहु केतु का काला (भूलसा) होना, सूर्य का तपना, चंद्रमा की कला का खंडित होना, पलास के फूलों का लाल (दहकते अंगारे सा) होना आदि सत्य हैं। वे विरहताप के कारण ऐसे हैं, केवल यह बात कल्पित है।

ताप के अतिरिक्त विरह के और अंगों का भी विन्याम जायसी ने इस हृदयहारिणी और व्यापकत्वविधायिनी पद्धति पर बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यंतर जगत् का प्रतिबिंब

सा दिखाते हुए किया है; काम हेतुत्प्रेक्षा से लिया गया है। प्रेमयोगी रत्नसेन के विरह-व्यथित हृदय का प्रभाव हम सूर्य, चंद्र, वन, पेड़, पक्षी, पत्थर, चट्टान सब में देखते चलते हैं—

रोवें रोवें वै वान जो फूटे । सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे ॥
नैनहि चली रकत कै धारा । कथा भीजि भएउ रतनारा ॥
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता । औ मजीठ टेसू वन राता ॥
भा वसंत, राती वनसपती । औ राते सब जोगी जती ॥
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरु । औ राते तहूँ पंखि पखेरू ॥
रानी सती, अग्नि सव काया । गगन मेघ राते तेहि छाया ॥
ईगुर भा, पहार जाँ भोजा । पै तुम्हार नहि रोवें पसीजा ॥

इसी प्रकार नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि भीगी हुई जान पड़ती है—

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई । रकत आँसु घुँघुची वन वोई ॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ वनवासी । तहँ तहँ होइ घुँघुचि कै रासी ॥
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ । गुंजा गुंजि करै, 'पिउ पीऊ' ॥
तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होई राते ॥
राते विव भीजि तेहि लोहू । परवर पाक, फाट हिय गोहूँ ॥

विरहवर्णन में भक्तवर सूरदास जी ने भी गोपियों के हृदय के रंग में बाह्य प्रकृति को रंगा है। एक स्थान पर तो गोपियों ने उन उन पदार्थों को कोसा है जो उस रंग से कोरे दिखाई पड़े हैं—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग श्यामगुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
कौन काज ठाढ़े रहे वन में काहे न उकठि परे ?

नागमती का विरहवर्णन हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्यदशा धन्य है, जिसमें ये सब अपने सगे लगने लगते हैं और जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुःख सुनाने से भी जी हलका होगा। सब जीवों का शिरोमणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा। उसकी पटरानी, जो कभी बड़े बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है, उनके सामने अपना हृदय खोल रही है। हृदय की इस उदार और व्यापक दशा का कवियों ने केवल प्रेमदशा के भीतर ही वर्णन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है। मारने के लिये शत्रु का पीछा करता हुआ क्रोधातुर मनुष्य पेड़ों और पक्षियों से यह पूछता हुआ कहीं नहीं कहा गया है कि 'भाई ? किधर गया ? बाल्मीकि, कालिदास आदि से लेकर जायसी, सूर, तुलसी आदि भाषा-कवियों तक सबने इस दशा का संनिवेश विप्रलंब (या कहीं करुण) में ही किया है। बाल्मीकि के राम सीताहरण होने पर वन वन पूछते फिरते हैं—

'हे कदंब, तुम्हारे फूलों से अधिक प्रीति रखनेवाली मेरी प्रिया को यदि जानते हो तो बताओ। हे बिल्व वृक्ष, यदि तुमने उस पीतवस्त्रधारिणी को देखा हो तो बताओ।

हे मृग, उस मृगनयनी को तुम जानते हो ?' इसी प्रकार तुलसी के राम भी वन के पशु-पक्षियों से पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी । तुम देखी सीता मृगनयनी ॥

कालिदास का यक्ष भी 'चेतनाचेतन' भेद इसी प्रेमदशा के ही भीतर भूला है । इससे यह सिद्ध है कि कविपरंपरा के बीच यह एक मान्य परिपाटी है कि इस दशा का वर्णन प्रेमदशा के भीतर ही हो ।

इस संबंध में मामूली तीर पर तो इतना ही कहना काफी समझा जाता है कि 'उन्माद' की व्यंजना के लिये इस प्रकार का आचरण दिखाया जाता है । 'उन्माद' ही सही, पर एक खास ढर्रे का है । इसका आविर्भाव प्रेमताप से पिघलकर फैले हुए हृदय में ही होता है । संबंध का मूल प्रेम है, अतः प्रेमदशा के भीतर ही मनुष्य का हृदय उस संबंध का आभास पाता है जो पशु पक्षी, द्रुम लता आदि के साथ अनादि काल से चला आ रहा है ।

नागमती उपवनों में रोती फिरती है । उसके विलाप से घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों की नाँद हराम हो गई है—

फिर फिर रोव, कोई नहिं डोला । आधी रात विहंगम बोला ॥

तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी । केहि दुख रैन न लावसि आँखी ॥

और कवियों ने पशुपक्षियों को संबोधन भर करने का उल्लेख करके बात और आगे नहीं बढ़ाई है, जिनमें ऊपर से देखनेवालों का ध्यान 'उन्माद' की दशा तक ही रह जाता है । पर जायसी ने जिन प्रकार मनुष्य के हृदय में पशुपक्षियों से सहानुभूति प्राप्त करने की संभावना की है, उसी प्रकार पक्षियों के हृदय से सहानुभूति के संचार की भी । उन्होंने सामान्य हृदयतत्व की सृष्टिव्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशुपक्षी सबको एक जीवनसूत्र में बद्ध देखा है । राम के प्रश्न का खग, मृग और मधुकर कुछ जवाब नहीं देते हैं । राजा पुररवा कोकिल, हंस इत्यादि को पुकारता ही फिरता है, पर कोई सहानुभूति प्रकट करता नहीं दिखाई पड़ता (विक्रमोवशी, अंक ४) । पर नागमती की दशा पर एक पक्षी को दया आती है । वह उसके दुःख का कारण पूछता है । नागमती उस पक्षी से कहती है—

चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न सँदेसा टेक ।

कहाँ विरह दुख आपनु, बैठि सुनहु दँड एक ॥

इसपर वह पक्षी सँदेसा ले जाने को तैयार हो जाता है ।

पञ्चावली से कहने के लिये नागमती ने जो सँदेसा कहा है वह अत्यंत मर्मस्पर्शी है । उसमें मान, गर्व आदि से रहित, सुखभोग की लालसा से अलग, अत्यंत नम्र, शीतल और विशुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है—

पदमावति सौं कहेहु, विहंगम । कंत लोभाइ रही कर संगम ॥

तोहि चैन मुख मिलै सरीरा । मो कहँ हिये दुंद दुख पूरा ॥

हमहुँ वियाहि संग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ, जानु परजीऊ ॥

मोहि भोग सौं काज न, वारी । साँह दिष्टि कै चाहनहारी ॥

मनुष्य के आश्रित, मनुष्य के पाले हुए, पेड़ पौधे किस प्रकार मनुष्य के सुख से सुखी और दुःख से दुखी दिखाई देते हैं, यह दृश्य बड़े कौशल और बड़ी सहृदयता से जायसी ने दिखाया है। नामगती की विरहदशा में उसके बागवगीचों से उदासी बरस रही थी। पेड़ पौधे सब मुरझाए पड़े थे। उनकी सुध कौन लेता है? पर राजा रत्नसेन के लौटते ही—

पलुही नागमती कै बारी। साजे फूल फूलि फुलवारी ॥
जावत पंखि रहे सब दहे। सबै पंखि बोले गहगहे ॥

जब पेड़ पौधे सूख रहे थे तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से भुलस रहे थे। इस प्रकार नागमती की वियोगदशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं, पशुपक्षियों और पेड़ पौधों तक दिखाई पड़ता था। कालिदास ने पाले हुए मृग और पौधों के प्रति शकुंतला का स्नेह दिखाकर इसी व्यापक और विशुद्ध भाव की व्यंजना की है।

विप्रलंभ शृंगार ही 'पद्मावत' में प्रधान है। विरहदशा के वर्णन में जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ कोई अशुचिकारक वीभत्स दृश्य नहीं आया है। कृशता, ताप, वेदना आदि के वर्णन में भी उन्होंने शृंगार के उपयुक्त वस्तु सामने रखी है; केवल उसके स्वरूप में कुछ अंतर दिखा दिया है। जो पद्मिनी स्वभावतः पद्मिनी के समान विकसित रहा करती थी वह सूखकर मुरझाई हुई लगती है—

कँवल सूख, पखुरी बेहरानी। गलि गलिकै मिलि छार हेरानी ॥

इस रूप में प्रदर्शन व्यक्ति के प्रति सहानुभूति और दया का पूरा अवसर रहता है। पाठक उसकी दशा व्यंजित करनेवाली वस्तु को ओर कुछ देर दृष्टि गड़ाकर देख सकते हैं। मुरझाया फूल भी फूल है। अतीत सौंदर्य के स्मरण से भाव और उद्दीप्त होता है। पर उसके स्थान पर यदि चीरकर हृदय का खून, नसें और हड्डियाँ आदि दिखाई जायँ, तो दया होते हुए भी इन वस्तुओं की ओर दृष्टि जमाते न बनेगा।

विरहदशा के भीतर 'निरवलंबता' की अनुभूति रह रहकर विरही को होती है। देखिए, कैसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रखकर कवि ने इस 'निरवलंबता' का गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है—

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि कै डार ॥

'लागै केहि के डार' मुहावरा भी बहुत अच्छा आया है।

'पद्मावत' में यद्यपि हिंदू जीवन के परिचायक भावों की ही प्रधानता है, तथापि वीच वीच में फारसी साहित्य द्वारा पोषित भावों के भी छिंटे कहीं कहीं मिलते हैं। विदेशीय प्रभाव के कारण वियोगदशा के वर्णन में कहीं कहीं वीभत्स चित्र सामने आ जाते हैं; जैसे 'कवात्रे सोत्र' वाला यह भाव—

विरह सरागन्हि भूजै माँसु। गिर गिर परे रक्त कै आँसु ॥
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रक्त कै आँसु माँसु सब रोवा ॥
खिन एक बार माँसु अस भूँजा। खिनहि चवाइ सिंह अस गूँजा ॥

वियोग में इस प्रकार के बीभत्स दृश्य का समावेश जायसी ने जो किया है वह तो किया ही है, संयोग के प्रसंग में भी वे एक स्थान पर ऐसा ही बीभत्स चित्र सामने लाए हैं। बादल जब अपनी नवागता बधु की ओर से दृष्टि फेर लेता है, तब वह सोचती है कि क्या मेरे कटाक्ष तो उसके हृदय को वेधकर पीठ की ओर नहीं जा निकले हैं; यदि ऐसा है तो तूँवी लगाकर मैं उसे खींच लूँ और जब वह पीड़ा से चौंककर मुझे पकड़े तो गहरे रस से उसे धो डालूँ—

मकु पिउ दिस्टि समानेउ सालु । हुलसा पीठि कड़ावौं सालु ॥

कुच तूँवी अब पीठि गड़ोवौं । गहे जो हकि, गाड़ रस धोवौं ॥

कटाक्ष या नेत्रों को अनियारे, नुकिले तक कह देना तो ठीक है, पर ऊहात्मक या वस्तुव्यंजनात्मक पद्धति पर इस कल्पना को और आगे बढ़ाकर शरीर पर सचमुच घाव आदि दिखाने लगना काव्य की सीमा के बाहर जाना है, जैसा कि एक कवि जी ने किया है—

काजर दे नहि, ए री सुहागिन ! आंगुरी तेरी कटैगी कटाछन ।

यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छूरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए। कटाक्ष मन में चुभते हैं न कि शरीर पर प्रत्यक्ष घाव करते हैं।

विरहजन्य कृशता के वर्णन में भी जायसी ने कविप्रथानुसार पूरी अत्युक्ति की है, पर इस अत्युक्ति में भी गंभीरता बनी हुई है, वह खेलवाड़ या मजाक नहीं होने पाई है। विहारी की नायिका इतनी क्षीण हो गई है कि जब साँस खींचती है तब उसके भोंके से चार कदम पीछे हट जाती और जब साँस निकलती है तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम की सी दशा उसकी रहती है। इसी प्रकार उर्दू के एक शायर ने आशिक का जूँ या खटमल का वच्चा बना डाला है—

इंतहाए लागरी से जब नजर आया न मैं ॥

हँस के वो कहने लगे, विस्तर को भाड़ा चाहिए ॥

पर जायसी का यह वर्णन मुन हृदय द्रवीभूत होता है, हँसी नहीं आती—

दहि कोइला भइ कंत सनेहा । तोला माँसु रही नहि देहा ॥

रक्त न रहा विरह तन जरा । रती रती होइ नैनन्ह ढरा ॥

:o:

:o:

:o:

हाड़ भए सत्र किगरी, नसैं भई सव ताँति ।

रोवँ रोवँ ते धुनि उठै कहीं विथा केहि भाँति ॥

इसी नागमती के विरहवर्णन के अंतर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें वेदना का अत्यंत निर्मल और कोमल स्वरूप, हिंदू दांपत्य जीवन का अत्यंत मर्मस्पर्शी माधुर्य; अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्यभावना तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यंत स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। पर इन कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान जाने पर भी इसके सौंदर्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय रह जाता है। इस बारहमासे में वर्ष के बारह

महीनों का वर्णन विप्रलंभ शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से है, जिसमें आनंदप्रद वस्तुओं का दुःखप्रद होना दिखाया जाता है, जैसा कि मंडन कवि ने कहा है—

जेइ जेइ सुखद, दुःखद अब तेइ तेइ कवि मंडन विछुरत जदुपत्ती ।

प्रेम में सुख और दुःख दोनों की अनुभूति की मात्रा जिस प्रकार बढ़ जाती है उसी प्रकार अनुभूति के विषयों का विस्तार भी । संयोग की अवस्था में जो प्रेम सृष्टि की सब वस्तुओं से आनंद का संग्रह करता है, वही वियोग की दशा में सब वस्तुओं से दुःख का संग्रह करने लगता है । इसी दुःखद रूप में प्रत्येक मास की उन सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन जायसी ने किया है जिनके साहचर्य का अनुभव मनुष्य मात्र—राजा से लेकर रंक तक करते हैं । अतः इस बारहमासे में मुख्यतः दो बातें देखने की हैं—

(१) प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन ।

(२) दुःख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना ।

प्रथम के संबंध में यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन संस्कृत कवियों का सा संश्लिष्ट विशद चित्रण उद्दीपन की दृष्टि से किए हुए ऋतुवर्णन में नहीं हुआ करता; केवल वस्तुओं और व्यापारों की अलग अलग भूलक भर दिखाकर प्रेमी के हृदय की अवस्था की व्यंजना हुआ करती है । परिचित प्राकृतिक दृश्यों को साहचर्य द्वारा और कवियों की वाणी द्वारा जो मर्मस्पर्शी प्रभाव प्राप्त है उसका अनुभव उनकी ओर संकेत करने मात्र से भी सहृदयों को हो जाता है । इस प्रकार बहुत ही सुंदर संकेत, बहुत ही मनोहर भूलक, ऐसे बारहमासे में हम पाते हैं । कुछ उदाहरण लीजिए—

चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा । साजा विरह, दुंद दल वाजा ॥

धूम, साम, धौरे घन धाए । सेत धजा वग पाँति देखाए ॥

खड़ग वीजु चमकै चहुँ ओरा । बुंद वान बरिसहि चहुँ ओरा ॥

×

×

×

वाट असूझ अथाह गँभीरी । जिउ वाउर भा फिरै भँभीरी ॥

जग जल बूड़ जहाँ लगी ताकी । मोरि नाव खेवक त्रिनु थाकी ॥

जेठ जरै जग चलै लुवारा । उठहि ववंच परहि अंगारा ॥

उठै आगि औ आवै आंधी । नैन न सूभ, मरौं दुःख वाँधी ॥

अपनी भावुकता का बड़ा भारी परिचय जायसी ने इस बात में दिया है कि रानी नागमती विरहदशा में अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है । इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरहवाक्य छोटे बड़े सब हृदयों को समान रूप से स्पर्श करते हैं । यदि कनकपर्यक, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार, संगमर्मर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं । पर जायसी ने स्त्रीजाति को, या कम से कम हिंदू गृहिणी मात्र की, सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलंभ शृंगार के अत्यंत समुज्वल रूप का विकास दिखाया है । देखिए, चौमासे में स्वामी के न रहने से घर की जो दशा होती है, वह किस प्रकार गृहिणी के विरह का उद्दीपन करती है—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा । हाँ विनु नाह मँदिर को छावा ?

इसी प्रकार शरीर का रूपक देकर बरसात आने पर साधारण गृहस्थों की चिंता और आयोजना की झलक दिखाई गई है—

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी । मोहि पिउ विनु छाजनि भई गाढ़ी ॥
तन तिनउर भा, भूरी खरी । भइ बरखा, दुख आगरि जरी ॥
बंध नाहि और कंध न कोई । वात न आव, कहीं का रोई ।
सांठि नाठि जग वात को पूछा । विनु जिउ फिरै, मूज तनु छूँछा ॥
भई दुहेली टेक विहूनी । थाँभ नाहि उठ सकै न थूनी ।
बरसै मह, चुवहि नैनाहा । छपर छपर होह रहि विनु नाहा ।
कोरी कहाँ, टाट नव साजा । तुम विनु कंत न छाजनि छाजा ॥

यह आंगिक माणुकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है; यह हिंदू गृहिणी की विरह-वार्ता है। इसका सात्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य परम मनोहर है।

यद्यपि इस वारहमासे में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की हृद्दि के अनुसार अलग अलग झलक भर दिखाई गई है, उनका संश्लिष्ट चित्रण नहीं है, तथापि एकाध जगह कवि का अपना निरीक्षण भी बहुत सूक्ष्म और सुंदर है जिसका उल्लेख वस्तुवर्णन के अंतर्गत किया जायगा।

अब दुःख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना लीजिए। जायसी के विरहोद्गार अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। जायसी को हम विप्रलंभ शृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं। गार अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। जायसी को हम विप्रलंभ शृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं। जो वेदना, जो कामलता, जो सरलता और जो गंभीरता इनके वचनों में है, वह अत्यंत दुर्लभ है। नागमती सब जीवजंतुओं और पशुपक्षियों में सहानुभूति की भावना भरती हुई कहती है—

पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौरा ! हे काग !
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुँवा हम्ह लाग ! !

इस सहानुभूति की संभावना रानी के हृदय में होती कैसे है? यह समझकर होती है कि भौरा और काँवा दोनों उसी विरहाग्नि के धूँएँ से काले हो गए हैं जिसमें मैं जल रही हूँ। मम दुःखभोगियों में परस्पर सहानुभूति का उदय अत्यंत स्वाभाविक है। 'सँदेसड़ा' शब्द में स्वार्थ 'ड़ा' का प्रयोग भी बहुत ही उपयुक्त है। ऐसा शब्द उस दशा में मुँह से निकलना है जब हृदय प्रेम, माधुर्य, अल्पता, तुच्छता आदि में से कोई भाव लिए हुए होता है, 'हे भौरा ! हे काग !' से एक एक को अलग अलग संबोधन करना सूचित होता है। आवेग की दशा में यही उचित है। 'हे भौरा औ काग' कहने में यह बात न होती।

दुःख और आह्लाद की दशा में एक बड़ा भारी भेद है। जब हृदय दुःख में मग्न रहता है तब सुखद और दुःखद दोनों प्रकार की वस्तुओं से दुःख का संग्रह करता है। पर आनंद की दशा का पोषण केवल सामान्य या आनंददायक वस्तुओं से ही होता है, दुःखप्रद वस्तुओं से नहीं। विरहदशा दुःखदशा है। इसमें कष्टदायक वस्तुएँ तो और भी कष्टदायक हो ही जाती हैं, जैसे—

- (क) काँपै हिया जनावँ सीऊ । तो पै जाइ होइ संग पीऊ ॥
पहल पहल तन रूई भाँपै । हहरि हहरि अधिकाँ हिय काँपै ॥
- (ख) चारिहु पवन भकोरै आगी । लंका दाहि पलंका लागी ॥
उठै आगि औ आवै आंधी । नैन न सूझ, मरौं दुःख वाँधी ॥

सुखदायक वस्तुएँ भी दुःख को बढ़ाती हैं; जैसे—

कातिक सरद चंद उजियारी । जग सीतल हौं विरहै जारी ॥
चौदह करा चांद परगासा । जनहुँ जरै सब धरति अक्रामा ॥
तन, मन, सेज करै अगिदाहू । सब कहँ चंद भयहु मोहि राहू ॥

कहीं संयोगसुख या आनंदोत्सव देखकर अपने पक्ष में उसके अभाव की भावना से विरह की आग और भी भड़कती है ।

- (क) अबहूँ निटुर आउ एहि वारा । परव देवारी होई संमारा ॥
सखि भूमुक गावै अँग मोरी । हौं भुराव, विछुरी मोरि जोरी ॥
- (ख) करहि वनस्पति हियै हुलासू । मो कहँ भा जग दून उदामू ॥
फाग करहि सव चाँचरि जोरी । मोहि तन लाइ दीन्हि जस होरी ॥

नागमती देखती है कि बहुतां के विछुड़े हुए प्रिय मित्र आ रहे हैं पर मेरे प्रिय नहीं आ रहे हैं । यह वैषम्य की भावना उसे और भी व्याकुल करती है । किसी वस्तु के अभाव से दुखी मनुष्य के हृदय की यह एक अत्यंत स्वाभाविक वृत्ति है । पपीहे का प्रिय पयोधर आ गया, सीप के मुँह में स्वाति की बूंद पड़ गई, पर नागमती का प्रिय न आया—

चित्रा मित्र मीन कर आवा । पपिहा, पीउ पुकारत पावा ॥
स्वाति बूंद चातक मुख परे । समुद सीप मोती सब भरे ॥
सरवर संवरि हंस चलि आए । सारस कुरलहि खँजन देखाए ॥

विरह का दुःख ऐसा नहीं कि चारों ओर जो वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं उनसे कुछ जी बहले । उनसे तो और भी अपनी दशा का दुःखद स्वरूप स्पष्ट होता है—चाहे वे उसकी दुःखदशा से भिन्न दशा में दिखाई पड़ें, चाहे कुछ सादृश्य लिए हुए । भिन्न भाव में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं के नमूने तो ऊपर उदाहरण में आ गए हैं । अब भिन्न भिन्न ऋतुओं की नाना वस्तुओं और व्यापारों को विरही लोग किस प्रकार सादृश्यभावना द्वारा अपनी दशा की व्यंजना का सुलभ साधन बनाया करते हैं, यह भी देखिए—

बरसै मघा भकोरि भकोरी । मोर दुई नैन चुवै जम ओरी ॥
पुरवा लाग, भूमि जल पूरी । आक जवास भई तस भूरी ॥

× × ×

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला । हरियरि भूमि कुमुंभी चोला ॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा । विरह भुलाइ देह भकभोरा ॥

× × ×
तन जस पियर पात भा मोरा । तेहि पर विरह देइ भककोरा ॥
× × ×

विरहिणी की इस सादृश्यभावना का वर्णन कविपरंपरासिद्ध है । सूरदास का:

'निस दिन वरसत नैन हमारे' यह पद प्रसिद्ध है और कवियों ने ऋतुसुलभ वस्तुओं और व्यापारों के साथ विरहिणी के तन और मन की दशा का सादृश्य वर्णन किया है। यह सादृश्यकथन अत्यंत स्वाभाविक होता है क्योंकि इसमें उपमान ऊहा द्वारा सोचकर निकाला हुआ नहीं होता बल्कि सामने प्रस्तुत रहता है, और प्रस्तुत रहकर उपमेय की ओर ध्यान ले जाता है। वैशाख में विरहिणी एक ओर सूखते तालों की दरारों को देखती है, दूसरी ओर विदीर्ण होते हुए अपने हृदय को। वरसात में तो वह एक ओर तो टपकती हुई झोलती देखती है, दूसरी ओर अपने आंसुओं की धारा। एक ओर सूखे हुए 'आक जवास' को देखती है, दूसरी ओर अपने शरीर को। शिशिर में एक ओर सूखकर भड़े हुए पीले पत्तों को देखती है, दूसरी ओर अपनी पीली पीली देह को। अतः उक्त उपमाएँ 'दूर की सूभ' नहीं हैं। उनमें सादृश्य बटुन सींचा विचारा हुआ नहीं है, उसका उदय विरहबिह्वल अंतःकरण में बिना प्रयास हुआ है। दो उपस्थित वस्तुओं में सादृश्य की ऐसी स्वाभाविक भावना संस्कृत कवियों ने बहुत अच्छी की है। कालिदाम का यह श्लोक ही लीजिए—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धानुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ (२.२६)

इस वारहमासे में हृदय के वेग की व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक रीति से होने पर भी भाव अत्यंत उत्कर्षदशा को पहुँचे हुए दिखाए गए हैं। देखिए, अभिलाषा का यहाँ कैसा उत्कर्ष है—

राति दिवस वस यह जिउ मोरे । लगौं निहोर कंत अब तोरे ॥
यह नन जारौं छार कै, कहाँ कि पवन उड़ाव ॥
मकु तेहि भारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव ॥

जायसी का रहस्यवाद—सूफियों के अद्वैतवाद पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाना है कि किस प्रकार आर्थ जाति (भारतीय और यूनानी) के तत्त्वचिंतकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत को सामी पैगंबरी मतों में रहस्यभावना के भीतर स्थान मिला। उक्त मतों (यहूदी, ईसाई, इस्लाम) के बीच तत्त्वचिंतन की पद्धति या ज्ञानकांड का स्थान न होने के कारण—मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि या अकल का दखल न होने के कारण—अद्वैतवाद का ग्रहण रहस्यवाद के रूप में ही हो सकता था। इस रूप में पड़कर यह धार्मिक विश्वास में बाधक नहीं समझा गया। भारतवर्ष में तो यह ज्ञानक्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञानक्षेत्र में ही रहा; पर अरब, फारस आदि में जाकर यह भावक्षेत्र के बीच मनोहर रहस्यभावना के रूप में फैला।

योरप में भी प्राचीन यूनानी दार्शनिकों द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतवाद ईसाई मजहब के भीतर रहस्यभावना के ही रूप में लिया गया। रहस्योन्मुख सूफियों और पुराने कैथलिक ईसाई भक्तों की साधना ममान रूप से माधुर्य भाव की ओर प्रवृत्त रही। जिस प्रकार सूफी ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में करते थे उसी प्रकार स्पेन, इटली आदि योरपीय प्रदेशों के भक्त भी। जिस प्रकार सूफी 'हाल' की दशा में उस माणक से भीतर ही भीतर मिला करते थे उसी प्रकार पुराने ईसाई भक्त साधक भी दुलहन बनकर उस दूल्हे से मिलने के लिये अपने अंतर्देश में कई खंडों के रंगमहल तैयार किया करते थे। ईश्वर की प्रति रूप में उपासना करनेवाली सैफो, सेंट टेरेसा आदि कई भक्तियों भी योरप में हुई हैं।

अद्वैतवाद के दो पक्ष हैं—आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत् की एकता । दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं—सर्व खल्विदं ब्रह्म । यद्यपि साधना के क्षेत्र में सूफियों और पुराने ईसाई भक्तों द्वारा दोनों की दृष्टि प्रथम पक्ष पर ही दिखाई देती है पर भावक्षेत्र में जाकर सूफी प्रवृत्ति की नाना विभूतियों में भी उसकी छवि का अनुभव करते आए हैं ।

ईसा की १९वीं शताब्दी में रहस्यात्मक कविता का जो पुनरुत्थान योरप के कई प्रदेशों में हुआ उसमें सर्ववाद (पानथेइज्म) का, ब्रह्म और जगत् की एकता का, भी बहुत कुछ आभास रहा । वहाँ इसकी ओर प्रवृत्ति स्वातंत्र्य और लोकसत्तात्मक भावों के प्रचार के साथ ही साथ दिखाई पड़ने लगी । स्वातंत्र्य के बड़े भारी उपासक अंगरेज कवि शेली में इस प्रकार के सर्ववाद की भलक पाई जाती है । आयर्लैंड में स्वतंत्रता की भीषण पुकार के बीच ईट्स की रहस्यमयी कविवारणी भी सुनाई देती रही है । ठीक समय पर पहुँचकर हमारे यहाँ के कवीन्द्र रवीन्द्र भी वहाँ के मुर में मुर मिला आए थे । पश्चिमी समालोचकों की समझ में वहाँ के इस काव्यगत सर्ववाद का संबंध लोकसत्तात्मक भावों के साथ है । इन भावों के प्रचार के साथ ही स्थूल गोचर पदार्थों के स्थान पर सूक्ष्म अगोचर भावना (ऐस्ट्रैक्शंस) की प्रवृत्ति हुई और वही काव्यक्षेत्र में जाकर भड़कीली और अस्फुट भावनाओं तथा चित्तों के विधान के रूप में प्रकट हुई ।^१

अद्वैतवाद के मूल में एक दार्शनिक सिद्धांत है, कविकल्पना या भावना नहीं । वह मनुष्य के बुद्धिप्रयास या तत्त्वचिंतन का फल है । वह ज्ञानक्षेत्र की वस्तु है । जब उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जब उसका संचार भावक्षेत्र में होता है तब उच्च कोटि के भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है । रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—भावात्मक और साधनात्मक । हमारे यहाँ का योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है । यह अनेक अप्राकृत और जटिल अभ्यासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है । तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद हैं, पर निम्न कोटि के । भावात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियाँ हैं जैसे, भूत प्रेत की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अंतर्गत होगी । अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलनेवाली भावना से सूक्ष्म और उच्च-कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है । तात्पर्य यह कि रहस्यभावना किसी विश्वास के आधार पर चलती है, विश्वास करने के लिये कोई नया तथ्य वा सिद्धांत नहीं उपस्थित कर सकती । किसी नवीन ज्ञान का उदय उसके द्वारा नहीं हो सकता । जिस कोटि का ज्ञान या विश्वास होगा उसी कोटि की उससे अद्भुत रहस्यभावना होगी ।

१. द पैशन फार इंटेलेक्चुअल ऐस्ट्रैक्शंस ह्वेन ट्रांसफर्ड टु द लिटरेचर आब इमैजिनेशन विक्मस ए पैशन फार ह्याट इज ग्रैडियोज ऐंड वेग इन सेंटीमेंट ऐंड इन इमैजरी द ग्रेट लारियेट आब युरोपियन डेमाक्रेसी विक्टर ह्यूगो एग्जिविट्स ऐटवंस द डेमाक्रेटिक लव आब ऐस्ट्रैक्ट आइडियाज, द डेमोक्रेटिक डिलाइट इन ह्याट इज ग्रैडियोज (ऐज वेल ऐज ह्याट इज ग्रैंड) इन सेंटीमेंट, ऐंड द डेमोक्रेटिक टेंडेंसी टुवर्ड्स ए पोएटिकल पानथेइज्म ।

—डाउडेन : 'न्यू स्टडीज इन लिटरेचर', इंटीडक्शन ।

अद्वैतवाद का प्रतिपादन सबसे पहले उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् भारतीय ज्ञानकांड के मूल हैं। प्राचीन ऋषि तत्त्वचिंतन द्वारा ही अद्वैतवाद के सिद्धांत पर पहुँचे थे। उनमें इस ज्ञान का उदय बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा हुआ था; प्रेमोन्माद या वेदोशी की दशा में सहसा एक दिव्य आभास या इल्लहाम के रूप में नहीं। विविध धर्मों का इतिहास लिखनेवाले कुछ पाञ्चात्य लेखकों ने उपनिषदों के ज्ञान को जो रहस्यवाद की कोटि में रखा है; वह उनका भ्रम या दृष्टिसंकोच है। वात यह है कि उस प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन को व्यक्त करने की व्यवस्थित शैली नहीं निकली थी। जगत् और उसके मूल कारण का चिंतन करते करते जिस तथ्य तक वे पहुँचते थे उसकी व्यंजना अनेक प्रकार से वे करते थे। जैसे आजकल किसी गंभीर विचारात्मक लेख के भीतर कोई मार्मिक स्थल या जाने पर लेखक की मनोवृत्ति भावोन्मुख हो जाती है और वह काव्य की भावात्मक शैली का अवलंबन करता है, उसी प्रकार उन प्राचीन ऋषियों को भी विचार करते करते गंभीर मार्मिक तथ्य पर पहुँचने पर कभी कभी भावोन्मेष होता था और वे अपनी उक्ति का प्रकाश रहस्यात्मक और अनूठे ढंग से कर देते थे।

गीता के दसवें अध्याय में सर्ववाद का भावात्मक प्रणाली पर निरूपण है। वहाँ भगवान् ने अपनी विभूतियों का जो वर्णन किया है वह अत्यंत रहस्यपूर्ण है। सर्ववाद को लेकर जब भक्त की मनोवृत्ति रहस्योन्मुख होगी तब वह अपने हृदय का जगत् के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा। वह खिले हुए फूलों में, शिशु के स्मित आनन में, सुंदर मेघमाला में, निखरे हुए चंद्रविंश में उसके सौंदर्य का, गंभीर मेघगर्जन में, विजली की कड़क में, वज्रपात में, भूकंप आदि प्राकृतिक विप्लवों में उसकी रौद्र मूर्ति का, संसार के असामान्य वीरों, परोपकारियों और त्यागियों में उसकी शक्ति, शील आदि का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार अवतारवाद का मूल भी रहस्य-भावना ही ठहरती है।

पर अवतारवाद के सिद्धांत रूप में गृहीत हो जाने पर, राम कृष्ण के व्यक्त ईश्वर विष्णु के अवतार स्थिर हो जाने पर, रहस्यदशा की एक प्रकार से समाप्ति हो गई। फिर राम और कृष्ण का ईश्वर के रूप में ग्रहण व्यक्तिगत रहस्यभावना के रूप में नहीं रह गया। वह समस्त जनसमाज के धार्मिक विश्वास का एक अंग हो गया। इसी व्यक्त जगत् के बीच प्रकाशित राम कृष्ण की नरलीला भक्तों के भावोद्रेक का विषय हुई। अतः रामकृष्णोपासकों की भक्ति रहस्यवाद की कोटि में नहीं आ सकती।

यद्यपि समष्टि रूप में वैष्णवों की सगुणोपासना रहस्यवाद के अंतर्गत नहीं की जा सकती, तथापि श्रीमद्भागवत के उपरांत कृष्णभक्ति का जो रूप प्राप्त हुआ उसमें रहस्य-भावना की गुंजाइश हुई। भक्तों की दृष्टि से जब धीरे धीरे श्रीकृष्ण का लोकसंग्रही रूप हटने लगा और वे प्रेममूर्ति मात्र रह गए तब उनकी भावना ऐकांतिक हो चली। भक्त लोग भगवान् को अधिकतर अपने ही संबंध से देखने लगे, जगत् के संबंध से नहीं। गोपियों का प्रेम जिस प्रकार एकांत और रूपमाधुर्य मात्र पर आश्रित था उसी प्रकार भक्तों का भी हो चला; यहाँ तक कि कुछ स्त्री भक्तों में भगवान् के प्रति उसी रूप का प्रेमाभाव स्थान पाने लगा जिस रूप का गोपियों का कहा गया था। उन्होंने भगवान् की भावना प्रियतम के रूप में की। बड़े बड़े मंदिरों में देवदासियों की जो प्रथा थी उससे इस 'माधुर्यभाव' को और भी सहारा मिला। माता पिता कुमारी लड़कियों को मंदिरों में दान कर आते थे, जहाँ

उनका विवाह देवता के साथ हो जाता था। अतः उनके लिये उस देवता की भक्ति पति-रूप में ही विधेय थी। इन देवदासियों में से कुछ उच्च कोटि को भक्तिनें भी निकल आती थीं। दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार की भक्तिन थी जिसका जन्म विक्रम संवत् ७७३ के आसपास हुआ था। यह बहुत छोटी अवस्था में किसी साधु को एक पेड़ के नीचे मिली थी। वह साधु भगवान् का स्वप्न पाकर इसे विवाह के वस्त्र पहनाकर, श्रीरंग जीके मंदिर में छोड़ आया था।

अंदाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावड़' नामक पुस्तक में अब तक मिलते हैं। अंदाल एक स्थान पर कहती है—अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्णके अतिरिक्त चौर किसी को अपना पति नहीं बना सकती। पति या प्रियतम रूप में भगवान् की भावना को वैष्णव भक्तिमार्ग में 'माधुर्य भाव' कहते हैं। इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य और स्वाभाविक है। भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य भाव' का अधिक प्रचार नहीं हुआ। आगे चलकर मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखादेखी इस भाव की ओर कृष्णभक्ति शाखा के कुछ भक्त प्रवृत्त हुए। इनमें मुख्य मीराबाई हुईं जो 'लोकलाज' खोकर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थीं। उन्होंने एक बार कहा था कि 'कृष्ण को छोड़ और पुरुष है कौन ? सारे जीव स्त्रीरूप हैं'।

सूफियों का असर कुछ और कृष्णभक्तों पर भी पूरा पूरा पाया जाता है। जैन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ साफ झलकती हैं। जैसे मूर्ति कव्यान् गति गति 'हाल' की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभु जी की मंडली भी नाचते नाचते मूर्छित हो जाती थी। यह मूर्छा रहस्यवादी सूफियों की रूढ़ि है। उसी प्रकार मद, प्यानी, उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की दूरारूढ़ व्यंजना भी सूफियों की बँधी हुई परंपरा है। इस परंपरा का अनुसरण भी पिछले कृष्णभक्तों ने किया। नागरीदास जी इश्क का प्याला पीकर बराबर भूमा करते थे। कृष्ण की मधुर मूर्ति ने कुछ आजाद सूफी फकीरों को भी आकर्षित किया। नजीर अकबरावादी ने खड़ी बोली के अपने बहुत से पद्यों में श्रीकृष्ण का स्मरण प्रेमालंबन के रूप में किया है।

निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि संतों की परंपरा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदांत का है, पर प्रेमतत्व बिल्कुल सूफियों का है। इनमें से दादू, दरिया साहब आदि तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं। कबीर में 'माधुर्य भाव' जगह जगह पाया जाता है। वे कहते हैं—

हरि मोर पिय, मैं राम की बहुरिया।

'राम की बहुरिया' कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की कठिनता प्रकट करती है, जैसे—

मिलना कठिन है, कैसे मिलौंगी पिय जाय ?

समुझि सोचि पग धरौं जतन से, बार बार डगि जाय।

ऊँची गैल, राह स्पटीली, पाँव नहीं ठहराय ॥

और कभी विरहदुःख निवेदन करती है।

त्रि० ४ (२,१००-७३)

पहले कहा जा चुका है कि भारतवर्ष में साधनात्मक रहस्यवाद ही हठयोग, तंत्र और रसायन के रूप में प्रचलित था। जिस समय सूफ़ी यहाँ आए उस समय उन्हें रहस्य की प्रवृत्ति हठयोगियों, रसायनियों और तांत्रिकों में ही दिखाई पड़ी। हठयोग की तो अधिकांश बातों का नमावेज उन्होंने अपनी साधनापद्धति में कर लिया। पीछे कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद और सूफ़ियों की प्रेमभावना मिलाकर जो 'निर्गुण संत मत' खड़ा किया उसमें भी 'इला, पिंगला, मुपमन नाडी' तथा भीतरी चक्रों की पूरी चर्चा रही। हठयोगियों तथा नाथपरंपरियों की दो मुख्य बातें सूफ़ियों और निर्गुण मतवाले संतों को अपने अनूकूल दिखाई पड़ी—(१) रहस्य को प्रवृत्ति, (२) ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूँढना।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों बातें भारतीय भक्तिमार्ग से पूरा मेल खानेवाली नहीं थीं। अवतारवाद के सिद्धांतरूप से प्रतिष्ठित हो जाने के कारण भारतीय परंपरा का भक्त अपने उपास्य को बाहर लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है, अपने हृदय के एकांत कोने में ही नहीं। पर फारस में भावात्मक अद्वैती रहस्यवाद खूब फैला। वहाँ की शायरी पर इसका रंग बहुत गहरा चढ़ा। खलीफा लोगों के कठोर धर्मशासन के बीच भी सूफ़ियों की प्रेममयी वारणी ने जनता को भावमग्न कर दिया।

इस्लाम के प्रारंभिक काल में ही भारत का सिंध प्रदेश ऐसे सूफ़ियों का अड्डा रहा जो यहाँ के वेदांतियों और साधकों के सत्संग से अपने मार्ग की पुष्टि करते रहे। अतः मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर हिंदुओं और मुसलमानों के समागम से दोनों के लिये जो एक 'सामान्य भक्ति मार्ग' आविर्भूत हुआ वह अद्वैती रहस्यवाद को लेकर जिसमें वेदांत और सूफ़ीमत दोनों का मेल था। पहले पहल नामदेव ने, फिर रामानंद के शिष्य कबीर ने जनता के बीच इस 'सामान्य भक्तिमार्ग' की अटपटी वारणी सुनाई। नानक, दादू आदि कई साधक इस नए मार्ग के अनुगामी हुए और 'निर्गुण संत मत' चल पड़ा। पर इधर यह निर्गुण भक्तिमार्ग निकला उधर भारत के प्राचीन 'सगुण मार्ग' ने भी, जो पहले से चला आ रहा था, जोर पकड़ा और रामकृष्ण का भक्तिस्रोत बड़े वेग से हिंदू जनता के बीच बहा। दोनों की प्रवृत्ति में बड़ा अंतर यह दिखाई पड़ा कि एक तो लोकपक्ष से उदासीन होकर केवल व्यक्तिगत साधना का उपदेश देता रहा, पर दूसरा अपने प्राचीन स्वरूप के अनुसार लोकपक्ष को लिए रहा। 'निर्गुण वानी' वाले संतों के लोकविरोधी स्वरूप को गोस्वामी तुलसीदास जी ने अच्छी तरह पहचाना था।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, रहस्यवाद का स्फुरण सूफ़ियों में पूरा पूरा हुआ। कबीरदास में जो रहस्यवाद पाया जाता है वह अधिकतर सूफ़ियों के प्रभाव के कारण। पर कबीरदास पर इस्लाम के कट्टर एकेश्वरवाद और वेदांत के मायावाद का रूखा संस्कार भी पूरा पूरा था। उनमें वाक्चातुर्य था, प्रतिभा थी, पर प्रकृति के प्रसार में भगवान् की कला का दर्शन करनेवाली भावुकता न थी। इससे रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने के लिये जिन दृश्यों को वे सामने करते हैं वे अधिकतर वेदांत और हठयोग की बातों के खड़े किए हुए रूपक मात्र होते हैं। अतः कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं। हिंदी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुंदर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में जिनकी भावुकता बहुत ही उच्च कोटि की है। वे सूफ़ियों की भक्तिभावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना

रूपों में उस प्रियतम के माधुर्य की छाया देखते हैं और-कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरहविकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना पद्मावत में अधिक मिलती है।

आरंभ में कह आए हैं कि 'पद्मावत' के ढंग के रहस्यवादपूर्ण प्रबंधों की परंपरा जायसी से पहले की है। मृगावती, मधुमालती आदि की रचना जायसी के पहले हो चुकी थी और उनके पीछे भी ऐसी रचनाओं की परंपरा चली। सबमें रहस्यवाद मौजूद है। अतः हिंदी के पुराने साहित्य में रहस्यवादी कविसंप्रदाय यदि कोई कहा जा सकता है तो इन कहानी कहनेवाले मुसलमान कवियों का ही।

जायसी कवि थे और भारतवर्ष के कवि थे। भारतीय पद्धति के कवियों की दृष्टि फारसवालों की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों पर कहीं अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपों को कहीं अधिक परखनेवाली होती है। इससे उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिये जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्यसंकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। कबीर में चित्रों (इमैजरी) की न वह अनेकरूपता है, न वह मधुरता। देखिए, उस परोक्ष ज्योति और सौंदर्यसत्ता की ओर कैसी लौकिक दीप्ति और सौंदर्य के द्वारा जायसी संकेत करते हैं—

बहुतै जोति जोति ओहि भई ।

रवि, ससि नखत दिपहि ओहि जोती । रतन पदारथ, मानिक, मोती ॥

जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी । तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर ।

हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर ॥

प्रकृति के बीच दिखाई देनेवाली सारी दीप्ति उसी से है, इस बात का आभास पद्मावती के प्रति रत्नसेन के ये वाक्य दे रहे हैं—

अनु धनि! तू निसिअर निसि माँहाँ । हौँ दिनिअर जेहि कै तू छाहाँ ॥

चाँदहि कहाँ जोति औ करा । सुरुज के जोति चाँद निरमरा ॥

अंगरेज कवि शेली की पिछली रचनाओं में इस प्रकार के रहस्यवाद की झलक बड़ी सुंदर दृश्यावली के बीच दिखाई देती है। स्त्रीत्व का आध्यात्मिक आदर्श उपस्थित करनेवाले 'एपिसाइकिडिअन' में प्रिया की मधुर वाणी प्रकृतिक्षेत्र में कहाँ कहाँ सुनाई पड़ती है—

इन सोलिटचूड्स

हर वायस केम टु मी थ्रू द व्हिस्परिंग बुड्स ,

ऐंड फ्राम द फाउटेन्स, ऐंड द ओर्डर्स डीप

आव फ्लावर्स व्हिच लाइक लिप्स मरमरिंग इन देयर स्लीप

आव द स्वीट किसेज व्हिच हैज लव्ड देम देयर,

ब्रीड्ड बट आव हर टु दि एनैमड एयर;

ऐंड फ्राम द ब्रीजेज, ह्वेदर लो आर लाउड,

ऐंड फ्राम द रेन आव् एव्हली पार्सिंग क्लाउड,

ऐंड फ्राम द सिर्गिंग आब द समर बर्ड्स,
ऐंड फ्राम आल साउंड्ज, आल साइलेंस ।

भावार्थ—निर्जन स्थानों के बीच मर्मर करते हुए कानन में, झरनों में, उन पुष्पों की परागगंध में, जो उस दिव्य चुवन के सुखस्पर्श से सोए हुए कुछ वरति से मुग्ध पवन को उसका परिचय दे रहे हैं; इसी प्रकार मंद या तीव्र समीर में, प्रत्येक दौड़ते हुए मेघखंड की झड़ी में, वसंत के विहंगमों के कलकूजन में, तथा प्रत्येक ध्वनि में, और निस्तब्धता में भी, मैं उसी की बाणी सुनता हूँ ।

कवीरदास में यह बात नहीं है । उन्हें वाहर जगत् में भगवान् की रूपकला नहीं दिखाई देती । वे सिद्धों और योगियों के अनुकरण पर ईश्वर को केवल अंतस् में बताते हैं—
कवीरदास में यह बात नहीं है । उन्हें वाहर जगत् में भगवान् की रूपकला नहीं दिखाई देती । वे सिद्धों और योगियों के अनुकरण पर ईश्वर को केवल अंतस् में बताते हैं—

मोंको कहाँ हूँदैं वंदे मैं तो तेरे पास में ।

ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना कावे कैलास में ।

जायसी भी उसे भीतर बताते हैं—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई । को रे मिलाव, कहाँ केहि रोई ।

पर जैसा कि पहले दिखा चुके हैं, वे उसके रूप की छटा, प्रकृति के नाना रूपों में भी देखते हैं ।

मानस के भीतर उस प्रियतम के सामीप्य से उत्पन्न कैसे अपरिमित आनंद की, कैसे विश्वध्यानी आनंद की, व्यंजना जायसी की इन पंक्तियों में है—

देखि मानसर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥

भा अंधियार, रैन मसि छूटी । भा भिनमार, किरनि रवि फूटी ॥

कैवल विगस तस विहसी देहीं । भँवर दसन होई कै रस लेहीं ॥

'देखि' अर्थात् उस अग्रखंड ज्योति का आभास पाकर वह मानस (मानसरोवर और हृदय) जगमगा उठा । देखिए न, खिले कमल के रूप में उल्लास मानसर में चारों ओर फैला है । उस ज्योति के साक्षात्कार से अज्ञान छूट गया—प्रभात हुआ, पृथ्वी पर से अंधकार हट गया । आनंद से चेहरा (देह = वदन = मुँह) खिल उठा, बत्तीसी निकल आई—कमल खिल उठे और उनपर भीरे दिखाई दे रहे हैं । अंतर्जगत् और बाह्य जगत् का कैसा अपूर्व सामंजस्य है, कैसी विवप्रतिविव स्थिति है !

उस प्रियतम पुरुष के प्रेम से प्रकृति कैसी विद्ध दिखाई देती है—

उन्ह वानन्ह अस को जो न मारा ! वेधि रहा सगरौ ससगरा ।

गगन नखत जो जाहि न गने । वै सब वान ओहि के हने ॥

धरती वान वेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहि सब साखी ॥

रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े । सूतहि सूत वेध अस गाढ़े ॥

१. एक स्थान पर जायसी ने कहा है—'मसि विनु दसन सोह नहीं देही ।' लख-नऊ में मर्द लोग भी मिरसी से दाँत काले करते हैं । पान के रंग से भी दाँतों पर स्याही चढ़ जाती है ।

वरुनि चाप अस ओपहूँ, बंधे रन वन ढाँख !
सौजहि तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख ॥

पृथ्वी और स्वर्ग, जीव और ईश्वर, दोनों एक थे; बीच में न जाने किसने इतना भेद डाल दिया है—

धरती सरग मिले हुत दोऊ । केइ किनार कै दीन्ह विछोऊ ॥

जो इस पृथ्वी और स्वर्ग के वियोग तत्व को समझेगा और उस वियोग में पूर्ण रूप से संमिलित होगा उसी का वियोग सारी सृष्टि में इस प्रकार फैला दिखाई देगा—

सूरज बूड़ि उठा होइ ताता । औ मजीठ टेसू वन राता ॥

भा वसंत, राती वनसपती । औ राते सत्र जोगी जती ॥

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू । औ राते सब पंखि पखेरू ॥

राती सती, अगिनि सब काया । गगन मेघ राते तेहि छाया ॥

सायं प्रभात न जाने कितने लोग मेघखंडों को रक्तवर्ण होते देखते हैं पर किस अनुराग से वे लाल हैं, इसे जायसी ऐसे रहस्यदर्शी भावुक ही समझते थे ।

प्रकृति के सारे महाभूत उस 'अमरधाम' तक पहुँचने का बराबर प्रयत्न करते रहते हैं पर साधना पूरी हुए बिना पहुँचना असंभव है—

धाइ जो बाजा कै मन साधा । मारा 'चक्र' भयउ दुइ आधा ॥

चाँद सुरूज औ नखत तराई । तेहि डर अंतरिख फिरहि सवाई ॥

पवन जाइ तँह पहुँचै चहा । मारा तैस लोटि भुईं रहा ॥

अगिनि उठी, जरि बुझो निआना । धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना ॥

पानि उठा, उठि जाइ न छूआ^१ । बहुरा रोइ, आइ भुईं चूआ ॥

इस अद्वैती रहस्यवाद के अतिरिक्त जायसी कहीं कहीं उस रहस्यवाद में भी आ फँसे हैं जो पाश्चात्यों की दृष्टि में 'भूठा रहस्यवाद' है । उन्होंने स्थान स्थान पर ङ्ठयोग, रसायन आदि का भी आश्रय लिया है ।

—:०:—

१. 'उठि जाइ न छूआ' के स्थान पर यदि 'उठि होइगा धूआ' पाठ होता तो और भी अच्छा होता ।

महाकवि सूरदास

हिंदुओं के स्वातंत्र्य के साथ साथ ही वीरगाथाओं की परंतरा भी काल के अंधेरे में जा छिपी। उस हीन दशा के बीच वे अपने पराक्रम के गीत किस मुँह से गाते और किन कानों से सुनते? जनता पर गहरी उदासी छा गई थी। राम और रहीम को एक बतानेवाली वानी मुरझाए मन को हरा न कर सकी क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वरवाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आंखों देख रहे थे। सर्वस्व गँवाकर भी हिंदू जाति अपनी सत्ता बनाए रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी। इससे उसने अपनी सभ्यता, अपने चिरसंचित संस्कार आदि की रक्षा के लिये राम और कृष्ण का आश्रय लिया और उनकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। जिस प्रकार बंग देश में कृष्ण चैतन्य ने उसी प्रकार उत्तर भारत में वल्लभाचार्य जी ने परमभाव की उस आनंदविधायिनी कला का दर्शन कराकर, जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन में सरसता का संचार किया। दिव्य प्रेमसंगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी तथा खिन्नता बह गई।

जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में बह गई थी, अबकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिलकंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करीलकुंजों के बीच फैलकर मुरझाए मनो को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर भनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। ये भक्त कवि सगुण उपासक का रास्ता साफ करने लगे। निर्गुण उपासना की नीरसता और अग्राह्यता दिखाते हुए ये उपासना का हृदयग्राही स्वरूप सामने लाने लग गए। इन्होंने भगवान् का प्रेममय रूप ही लिया, इससे हृदय की कोमल वृत्तियों के ही आश्रय और आलंबन खड़े हुए। आगे जो इनके अनुयायी कृष्णभक्त हुए वे भी उन्हीं वृत्तियों में लीन रहे। हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी यदि वे चाहते तो कृष्ण में ही मिल जाते, पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान् का यह व्यक्त स्वरूप यद्यपि एकदेशीय था—केवल प्रेम था—तथापि उस समय नैराश्य के कारण जनता के हृदय में जीवन की ओरसे एक प्रकार की जो अरुचि सी उत्पन्न हो रही थी उसे हटाने में उपयोगी हुआ। मनुष्यता के सौंदर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वंशाव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम, जीने की राह बनी रहने दी।

वाल्मीकाल और यौवनकाल कितने मनोहर हैं, उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदास जी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी उसमें गिरे हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'प्रयुंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आंखों से किया है, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना कोना वे भाँक आए। उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके,

उत्तनी का और कोई नहीं। हिंदी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने। उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचनेवाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से दँधकर चलनेवाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलंभ शृंगार को ही लें, अथवा 'भ्रमरगीत' को ही देखें, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को कवियों की पहुँच कहता हूँ। यदि हम मनुष्य जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदास की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं, तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार अधिक पाते हैं। उन क्षेत्रों में इतना अंतर्दृष्टिविस्तार और किसी कवि का नहीं। बात यह है कि सूर को 'गीतकाव्य' की जो परंपरा (जयदेव और विद्यापति की) मिली वह शृंगार की ही थी। इसी से सूर के संगीत में भी उसी की प्रधानता रही। दूसरी बात है उपासना का स्वरूप। सूरदास वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे जिन्होंने भक्तिमार्ग में भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके अनुकरण द्वारा 'सायुज्य मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्तिसाधना के इस चरम लक्ष्य या फल (सायुज्य) की ओर सूर ने कहीं कहीं संकेत भी किया है; जैसे—

सीत उष्ण सुख दुख नहीं मानै, हानि भए कुछ सोच न राँचै ।
जाय समाय सूर वा निधि में, बहुरि न उलटि जगत में नाचै ॥

जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है, उसी प्रकार प्रेमभाव की चरम सीमा आश्रय और आलंबन की एकता है। अतः भगवद्भक्ति की साधना के लिये इसी प्रेमतत्व को वल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्णभक्त कवि इसी को लेकर चले। गोस्वामी तुलसीदास जी की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोकपक्ष पर थी, इसी से वे मयादापुरुषोत्तम के चरित्र को लेकर चले और उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की और वृत्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया।

उक्त प्रेमतत्व की पुष्टि में ही सूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रतिभाव के तीन प्रबल और प्रधान रूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दांपत्य रति—सूर ने लिए हैं। यद्यपि पिछले दोनों प्रकार के रति भाव भी कृष्णान्मुख होने के कारण तत्त्वतः भगवत्प्रेम के अंतर्भूत ही हैं, तथापि निरूपणभेदसे और रचनाविभाग की दृष्टि से अलग रखे गए हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं वे भगवद्विषयक रति के अंतर्गत आएँगे, बाललीला के पद वात्सल्य के अंतर्गत और गोपियों के प्रेमसंबंधी पद दांपत्य रतिभाव के अंतर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं से सूर ने बड़ा भारी सागर भरकर तैयार किया है।

कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव पक्ष और भाव पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाव पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है, वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे नायिका के रूप या नखशिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें आश्रय या रतिभाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता

है। भावपक्ष में सूर की पहुँच का उल्लेख ऊपर हो चुका है। सूरदास जी ने शृंगार और वात्सल्य, ये ही दो रस लिए हैं। अतः विभाव पक्ष में भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक परिमित है जो उक्त दोनों रसों के आलंबन या उद्दीपन के रूप में आ सकती हैं; जैसे राधा और कृष्ण के नाना रूप, वेप और चेष्टाएँ तथा करीलकुंज, उपवन, यमुना, पवन, चंद्र, ऋतु इत्यादि।

विभाव पक्ष के अंतर्गत भी वस्तुएँ दो रूपों में लाई जाती हैं—वस्तु रूप में और अलंकार रूप में अर्थात् प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत रूप में। मान लीजिए कि कोई कवि कृष्ण का वर्णन कर रहा है। पहले वह कृष्ण के श्याम या नीलवर्ण शरीर को, उसपर पड़े पीतांबर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, मिर के कुंचित केश और मोरमुकुट आदि को सामने रखता है। यह विन्यास वस्तुरूप में हुआ। इसी प्रकार का विन्यास यमुनातट, निकुंज की लहराती लताओं, चंद्रिका, कोकिलकुंज आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभावर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है तो वह विन्यास अलंकार रूप में होगा। वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तुविन्यास का जो संकोच 'सूर' की रचना में दिखाई पड़ा है उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार के रूप में लाए हुए पदार्थों के प्राचुर्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या सूर में कम, पर अलंकार रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या बहुत अधिक है। दूसरे प्रकार की (आलंकारिक) रूपयोजना या व्यापारयोजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिये ही होती है, अतः इसमें लाए हुए रूप या व्यापार ऐसे ही होने चाहिए जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपों या व्यापार के समान हों। सूर अलंकारयोजना के लिये अधिकतर ऐसे ही पदार्थ लाए हैं।

सारांश यह कि यदि हम बाह्य सृष्टि से लिए गए रूपों और व्यापारों के संबंध में सूर की पहुँच का विस्तार करते हैं तो यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि प्रस्तुत रूप में लिए हुए पदार्थों और व्यापारों की संख्या परिमित है। उन्होंने कृष्ण और राधा के अंग प्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुनातट, बंशीवट, निकुंज, गोचारण, वनविहार, बाललीला, चौरा, भटखटी तथा कविप्रसिद्धि में परिगणित ऋतुसुलभ वस्तुओं तक ही अपनी रचना में

इसके कारण दो हैं। पहली बात तो यह है कि इनकी रचना 'गीतकाव्य' है जिसमें मधुर ध्वनिप्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर काफी होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी के मानस के समान सूरसागर प्रबंधकाव्य नहीं है, जिसमें कथाकथन से अनेक पदार्थों और व्यापारों की शृंखला जुड़ती चली चलती है। सूरदास जी ने प्रत्येक लीला या प्रसंग पर फुटकर पद कहे हैं, एक पद दूसरे पद से संबद्ध नहीं है। प्रत्येक पद स्वतंत्र है। इसी से किसी एक प्रसंग पर कहे हुए पदों को यदि हम लेते हैं तो एक ही घटना से संबंध रखनेवाली एक ही बात भिन्न भिन्न रागिनियों के कुछ फेरफार के साथ बहुत से पदों में मिलती है जिससे पढ़नेवाले का जी कभी कभी ऊब सा जाता है। यह बात प्रकृत प्रबंधकाव्य में नहीं होता।

परिमिति का दूसरा कारण पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदास जी ने जीवन की वास्तव में दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बाललीला और यौवनवृत्ति। इन दोनों के अंतर्गत

आए हुए व्यापार क्रीड़ा, उमंग और उद्रेक के रूप में हैं। प्रेम भी घटनापूर्ण नहीं है। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्नविस्तार नहीं है जिसके भीतर नई नई वस्तुओं और व्यापारों का संनिवेश होता चलता है। लोकसंघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है, उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है; बालक्रीड़ा, प्रेम के रंगरहस्य और उनकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है। जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उनमें वह वस्तुगांभीर्य नहीं है जो गोस्वामी जी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती, जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखालाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर के द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग वर्णन के लिये ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते करते किसी कुंज या भाड़ी में जा छिपते हैं या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिये अंतर्धान हो जाते हैं। बस, गोपियाँ मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोगदशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरहवर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर, जैसा कहा जा चुका है, सूरसागर प्रबंधकाव्य नहीं है जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बालचरित्र का प्रभाव नंद, यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ोसियों पर पड़ता दिखाई देता है। सूर का बाललीला वर्णन ही पारिवारिक जीवन से संबद्ध है। कृष्ण के छोटे छोटे पंरों से चलने, मुँह में मक्खन लिपटाकर भागने या इधर उधर नटखटी करने पर नंद बाबा और यशोदा मँया का कभी पुलकित होना, कभी खोभना, कभी पड़ोसियों का प्रेम से उलाहना देना आदि बातें एक छोटे से जनसमूह के भीतर आनंद का संचार करती दिखाई गई हैं। इसी बाललीला के भीतर कृष्णचरित्र का लोकपक्ष अधिकतर आया है, जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपियों को बचाना, कालीनाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना। इंद्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करने और नंद को वरुणलोक से लाने का वृत्तांत यद्यपि प्रेमलीला आरंभ होने के पीछे आया है, पर उससे संबद्ध नहीं है। कृष्ण के चरित्र में जो यह थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन हुई है। जिस शक्ति से उस बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया है। जिस अोज और उत्साह से तुलसीदास ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है उस अोज और उत्साह से सूरदास जी ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इंद्र के गर्वमोचन का वर्णन नहीं किया है। कंस और उसके साथी अमुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामने आते हैं, लोकशत्रु या लोकपीड़क के रूप में नहीं। रावण के साथी राक्षसों के समान वे ब्राह्मणों को चवा चवाकर उनकी हड्डियों का ढेर लगानेवाले या स्त्री चुरानेवाले नहीं दिखाई पड़ते। उनके कारण वैसा हाहाकार नहीं सुनाई पड़ता, उनका अत्याचार 'सभ्य अत्याचार' जान पड़ता है। शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल

सौंदर्य तक ही अपने को रखा है, जो प्रेम को आकर्षित करता है। शेष दो विभूतियों को भी लेकर भगवान् के लोकरंजनकारी स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे हिंदी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास ने की। श्रद्धा या महावृद्धि पुष्ट करने के लिये कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्व की प्रतिष्ठा में आग्रह न दिखाने के कारण ही सूर की उपासना सख्य भाव की कही जाती है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के साथ सूरदास द्वारा वर्णित कृष्णचरित्र का जो थोड़ा बहुत संबंध दिखाई पड़ता है उसका सम्यक् स्फुरण नहीं हुआ है। रहा प्रेम-पक्ष, वह ऐकान्तिक है। सूर का प्रेमपक्ष लोक से न्यारा है। गोपियों के प्रेमभाव की गंभीरता आगे चलकर उद्धव का ज्ञानगर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है। वह भक्ति की एकांत साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है, लोकधर्म के किसी अंग का नहीं। सूरदास सच्चे प्रेममार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञानमार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं, साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्तिमार्ग की सुगमता भी प्रतिपादित की है।

तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाववाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिये नहीं ली हैं। असुरों के अत्याचार से दुःखी पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान् का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है। इसी प्रकार कागासुर, वकासुर, शकटासुर आदि को हम लोकपीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के वध पर देवताओं का फूल वरसाना देखकर उक्त कर्म के लोकव्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर यह वर्णन विस्तृत नहीं है। सूरदास का मन जितना नंद के घर की आनंदवधाई, बालक्रीड़ा, मुरली की मोहनी तान, रासनृत्य, प्रेम के रंगरहस्य और संयोग वियोग की नाना दशाओं में लगा है उतना, ऐसे प्रसंगों में नहीं। ऐसे प्रसंग को उन्होंने किसी प्रकार चलता कर दिया है। कुछ लोग रामचरितमानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल वरसाना देखकर ऊबते से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने राम के प्रत्येक कर्म के ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रण किया है जिसपर तीनों लोकों की दृष्टि लगी रहती थी। कृष्ण का गोचरण और रासलीला आदि देखने को भी देवगण एकत्र हो जाते हैं पर केवल तमाशवीन की तरह।

सूरदास जी को मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिए, यद्यपि और रसों का भी एकाध जगह अच्छा वर्णन मिल जाता है; जैसे दावानल के इस वर्णन में भयानक रस का—

भहरात भहरात दावानल आयो ।

घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर वन धरनि आकास चहुँ पास छायो ॥
वरत वन वाँस, थहरत कुस काँस, जरि उड़त बहु भाँस, अति प्रबल धायो ।
भपटि भपटत लपट, फूल फूटत पटक चटक लट लटक द्रुम फटि नवायो ॥
अति अग्नि भार भंभार धुंधार करि उचित अंगार भंभार छायो ।
वरत वनपात भहरात भहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायो ॥

पर जैसा कहते आ रहे हैं, मुख्यता शृंगार और वात्सल्य की ही है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों रसों के ये सबसे बड़े कवि हैं।

यहाँ तक तो सूर की रचना की सामान्य दृष्टि से समीक्षा हुई । अब इन महाकवि की उन विशेषताओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन होना चाहिए जिनके कारण हिंदी साहित्य में इनका स्थान इतना ऊँचा है । ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है । पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूटी जान पड़ती हैं ! यह बात हिंदी साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उलझन में डालनेवाली होगी । सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, चलनेवाली परंपरा का मूल रूप नहीं ।

यदि भाषा को लेकर देखते हैं तो वह ब्रज की चलती बोली होने पर भी साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्रांतों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्यभाषा अपभ्रंश के शब्दों को लिए हुए है । सूर की भाषा विलकुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है । 'जाकों', 'तासों', 'वाकों' चलती ब्रजभाषा के इन रूपों के समान ही 'जेहि', 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अबधी की बोलचाल में तो अबतक हैं, पर ब्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे । पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है; जैसे, जाहि लगे सोई पै जानै प्रेम वान अनियारो । 'गोड़', 'आपन', 'हमारा' आदि पूरवी प्रयोग भी बराबर पाए जाते हैं । कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं; जैसे, महँगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द । ये सब बातें एक व्यापक काव्यभाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं ।

अब हम संक्षेप में उन प्रसंगों को लेते हैं जिनमें सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है । कृष्णजन्म की आनंदवधाई के उपरांत ही बाललीला का आरंभ ही जाता है । जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्यजीवन का चित्रण इन्होंने किया है उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया । शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं । उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अंतःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्यभावों की सुंदर स्वाभाविक व्यंजना की है । देखिए, 'स्पर्धा' का भाव, जो बालकों में स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यंजित हो रहा है—

मैया कर्वाहि वढ़ैगी चोटी ?

किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।

तू जो कहति बल की बेनी ज्याँ हूँ है लाँवी मोटी ॥

बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भांडार और कहीं नहीं है जितना बड़ा सूरसागर में है । दो चार चित्र देखिए—

- (१) कत हौ आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी ।
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै वान तेरी खोटी ॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकृटि लिए छोटी ।

- (२) सोभित कर नवनीत लिए ।

धुटुहन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए ॥

- (३) सिखवत चलन जसोदा मैया ।
अरवराय करि पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ ॥
- (४) पाहुनो करि दै तनक मह्यो ।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो ॥
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि ह्वै ढरकि रह्यो ।
हार जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' के कैसे स्वाभाविक वचन सूर ने रखे हैं—

खेलत में को काको गोसैयाँ ।

हरि हारे जीते श्रीदामा, बरवस ही कत करत रिसैयाँ ।

जाति पाँति हमते बड़ नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ ।

अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

अब यहाँ पर थोड़ा इसका निर्णय हो जाना चाहिए कि इन बालचेष्टाओं का काव्यविधान में क्या स्थान होगा ? वात्सल्य रस के अनुसार बालक कृष्ण आलंबन होंगे और नंद या यशोदा आश्रय । अतः ये चेष्टाएँ उद्दीपन के ही भीतर आ सकती हैं । इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भावविधान के ही भीतर है । उन्हें अलंकारविधान के भीतर घसीटकर 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहना मेरी समझ में ठीक नहीं ।

बाललीला के आगे फिर उस गोचारण का मनोरम दृश्य सामने आता है जो मनुष्य जाति को अत्यंत प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशों में काव्यप्रिय विषय रहा है । यवन देश (यूनान) के पशुचारण काव्य, (पैस्टोरल पोएट्री) का मधुर संस्कार यूरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला ही जाता है । कवियों को आकर्षित करने वाली गोपजीवन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिये सबसे अधिक अवकाश । कृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसाय जो आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छंदता न रही । कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरंभ में दिलीप को नंदिनी के साथ वन वन फिराकर इसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है । सूरदास जी ने यमुना के कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुंदर सुंदर दृश्यों का विधान किया है । यथा—

मैया री ? मोहि दाऊ टेरत ।

मोको वनफल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत ।

यमुनातट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँटकर खाते हैं, कभी इधर उधर दौड़ते हैं । कभी कोई चिल्लाता है—

दुम चढ़ि काहे न टेरत, कान्हा, गैयाँ दूरि गई ।

धाई जाति सवन के आगे जे वृषभान दई ॥

'जे वृषभान दई' कहकर सूर ने पशुप्रकृति का अच्छा परिचय दिया है । नए खूंटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं । इमो से वृषभानु की दी हुई गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं और कुछ दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं ।

वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेमव्यापार का अत्यंत स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूपचर्चा सुन, या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर हाय हाय करते हुए इस प्रेम का आरंभ नहीं हुआ है। नित्य अपने बीच चलते फिरते, हँसते बोलते, वन में गाय चराते देखते देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिनमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न बाधाओं को पार करने की लंबी चाँड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोकबंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार के स्वच्छंद समाज का स्वप्न अंगरेज कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बालक्रीड़ा के सखा सखी आगे चलकर यौवन क्रीड़ा के सखा सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा है—‘लरिकाई को प्रेम कहौं, अलि, कैसे छूटै?’ केवल एक साथ रहते रहते दो प्राणियों में स्वाभावतः प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुंदरता में भी अद्वितीय थे, अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। बालक्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवनक्रीड़ा के रूप में परिणत होती गई है कि संधि का पक्ष ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही आरंभ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा कही है—

(क) खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी ।

गए श्याम रवितनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी ॥

आँचक ही देखी तहाँ राधा, नैन विशाल, भाल दिए रोरी ॥

सूर श्याम देखत ही रीभे नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

(ख) बूझत श्याम, 'कौन तू' गोरी ।

'कहाँ रहति, काकी तू बेटी? देखी नाहिं कहूँ ब्रज खोरी ॥

'काहे को हम ब्रज तन आवति? खेलति रहति आपनी पौरी' ।

सुनति रहति श्रवनन नँदढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ॥

'तुम्हरी कहा चोरि हम लँहैं? खेलन चलो संग मिलि जोरी' ।

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ॥

इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई है, जिसे प्रेम कहते हैं। प्रेम का आरंभ उभय पक्ष में सम है। आगे चलकर कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है। कृष्ण यद्यपि गोपियों को भूले नहीं हैं, उद्धव के मुख से उनका वृत्तांत सुनकर वे आँखों में आँसू भर लेते हैं, तथापि गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालंभ दिया है उससे अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।

पहले कहा जा चुका है कि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में मूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता। वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का संपूर्ण जीवन क्रीड़ात्मक है और संपूर्ण क्रीड़ा संयोगपक्ष है। उनके अंतर्गत विभावों की परिपूर्णता कृष्ण और राधा के अंग प्रत्यंग की शोभा के अत्यंत प्रचुर और चमत्कारपूर्ण वर्णन में, तथा वृंदावन के करोलकुंजों में, लोनी लताओं, हरे भरे कछारों, खिली हुई चांदनी, कोकिलकूजन आदि में देखी जाती है। अनुभावों और संचारियों का इतना बाहुल्य और कहाँ मिलेगा? सारांश यह कि संयोगसुख के जितने प्रकार के क्रीड़ाविधान हो सकते हैं वे सब मूर ने लाकर इकट्ठे कर दिए हैं। यहाँ तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं— जैसे, कृष्ण के कंधे पर चढ़कर फिरने का राधा का आग्रह—जो कम रसिक लोगों को अरुचिकर स्त्रैणता प्रतीत होगी।

मूर का संयोगवर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता। राधा कृष्ण के रंगरहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि मूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय भांडार प्रतीत होता है। प्रेमोदय काल की विनोदवृत्ति और हृदयप्रेरित भावों की छटा चारों ओर छलकी पड़ती है। राधा और कृष्ण का गाय चराते समय वन में भी साथ हो जाता है, एक दूसरे के घर आने जाने भी लगे हैं, इसलिये ऐसी ऐसी बातें नित्य न जाने कितनी हुआ करती हैं—

- (क) करि ल्यो न्यारी, हरि आपनि गैयाँ ।
नहिन बसात लाल कछु तुमसों सवै ग्वाल इक ठैयाँ ॥
- (ख) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।
मोहन कर सों धार चलति पय, मोहनि मुख अति ही छवि बाढ़ी ।
- (ग) तुम पै कौन दुहावै गैया ?
इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया ?

यशोदा के इम कथन का कि बार बार तू यहाँ क्यों उत्पात मंचाने आती है, राधा जो उत्तर देती है उसमें प्रेम के आविर्भाव की कंसी सीधी सादी और भोली भाली व्यंजना है—

बार बार तू ह्याँ जनि आवै ।
'मैं कहा करीं सुतहि नहिं वरजति, घर तें मोहिं बोलावै ॥
मोसों कहत तोहिं विनु देखे रहत न मेरो प्रान ।
छोह लगत मोकीं सुनी वानी, महिर ! तिहारी आन' ॥

कहने का सारांश यह कि प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान मूर को था वैसा और किसी कवि का नहीं। इनका सारा संयोगवर्णन लंबी चौड़ी प्रेमचर्या है, जिनमें आनंदोल्लास के न जाने कितने स्वरूपों का विधान है। रासलीला, दानलीला, मानलीला इत्यादि सब उसी के अंतर्भूत हैं। पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेमचर्या दिखाने का प्रयत्न किया, पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-

विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप में है; उसमें न तो वह अनेकरूपता है और न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग ।

आलंबन की रूपप्रतिष्ठा के लिये कृष्ण के अंगप्रत्यंग का सूर ने जो सैकड़ों पदों में वर्णन किया है, वह तो किया ही है, आश्रयपक्ष में नेत्रव्यापार और उसके अद्भुत प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी ही रम्य उक्तियाँ बहुत अधिक हैं । रूप को हृदय तक पहुँचानेवाले नेत्र ही हैं । इससे हृदय की सारी आकुलता, अभिलाषा और उत्कंठा का दोष इन्हीं रूपवाहकों के सिर मड़कर सूर ने इनके प्रभावदर्शन के लिये बड़े अनूठे ढंग निकाले हैं । कहीं इनकी न बुझनेवाली प्यास की परेशानी दिखाई है, कहीं इनकी चपलता और निरंकुशता पर उन्हें कोसा है । पीछे विहारी, रामसहाय, गुलाम नबी और रसनिधि ने भी इस पद्धति का बहुत कुछ अनुकरण किया, पर यहाँ तो भांडार भरा हुआ है । इस प्रकार के नेत्र-व्यापार-वर्णन आश्रयपक्ष और आलंबनपक्ष दोनों में होते हैं । सूर ने आश्रयपक्ष में ही इस प्रकार के वर्णन किए हैं; जैसे—

मेरे नैना विरह की वेलि बई ।

सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई ॥

विगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई ।

अब कैसे निरुवारों, सजनी सब तन पसरि छई ॥

आलंबनपक्ष में सूर के नेत्रवर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा आदि से भरी रूपचित्रण की शैली पर ही हैं, जैसे—

देखि री ! हरि के चंचल नैन ।

खंजन मीन मृगज चपलाई नहि पटतर एक सैन ॥

राजिवदल, इंदीवर, शतदल, कमल, कुशेशय जाति ॥

निसि मुद्रित प्रातहि वै विगसत ये विगसत दिन रात ॥

अरुन असित सित भलक पलक प्रति को वरनै उपमाय ॥

मनौ सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय ॥

आलंबन में स्थित नेत्र क्या क्या करते हैं, इसका वर्णन सूर ने बहुत ही कम किया है । पिछले कुछ कवियों ने इस पक्ष में भी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ कही हैं; जैसे, सूर ने तो 'अरुन, असित सित, भलक' पर गंगा, यमुना और सरस्वती की उत्प्रेक्षा की है, पर गुलाम नबी (रसलीन) ने उसी भलक की यह करतूत दिखाई है—

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार ।

जियत, मरत, भुकि भुकि परत जेहि चितवत इक बार ॥

मुरली पर कही हुई उक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनसे प्रेम की सजीवता टपकती है । यह वह सजीवता है, जो भरे हुए हृदय से छलककर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ाती है । गोपियों की छड़ुछाड़ कृष्ण ही तक नहीं रहती । उनकी मुरली तक भी—जो जड़ और निर्जीव है—पहुँचती है । उन्हें वह मुरली कृष्ण के संबंध से कभी इठलाती, कभी चिढ़ाती और कभी प्रेमगर्व दिखाती जान पड़ती है । उसी संबंधभावना से वे उसे फटकारती हैं; कभी उसका भाग्य सहराती हैं और कभी उससे ईर्ष्या प्रकट करती हैं—

- (क) माई री ! मुरली अति गवं काहू वदति नहिं आज !
हरि के मुख कमल देखु पायो सुखराज !
- (ख) मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुन, री सखी ! जदपि नंदननहिं नाना भांति नचावति ।
राखति एक पायँ ठाढ़े करि अति अधिकार जनावति ॥
आपनु पौढ़ि अधर सज्जा पर कर पल्लव सों पद पलुटावति ।
भृकुटी कुटिल, कोप नासापुट हम पर कोपि कपावति ॥

हृदय के पारखी सूर ने संबंधभावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है । कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी सजीवता भर दी है कि कृष्ण क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़छाड़ करने को उनका जी चाहता है । हवा से लड़नेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम मुनी वहुतों ने होंगी, चाहे उनकी जिंदादिली की कद्र न की हो । मुरली के संबंध में कहे हुए गोपियों के वचन से दो मानसिक तथ्य उपलब्ध होते हैं—आलंबन के साथ किसी वस्तु की संबंधभावना का प्रभाव तथा अत्यंत अधिक या फालतू उमंग के स्वरूप । मुरली संबंधिनी उक्तियों में प्रधानता पहली बात की है, यद्यपि दूसरे तत्व का भी मिश्रण है । फालतू उमंग के बहुत अच्छे उदाहरण उस समय देखने में आते हैं जब कोई स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देख कभी ठोकर खाने पर कंकड़ पत्थर को दो चार मीठी गालियाँ सुनाती है, कभी रास्ते में पड़ी हुई पेड़ की टहनियों पर झूमना अहित भुझलाती है और कभी अपने किसी साथी की याँ ही ढकेल देती है ।

यह सूचन करने की आवश्यकता तो कदाचित् न हो कि रूप पर मोहित होना, दर्शन के लिये व्याकुल रहना, वियोग में तड़पना आदि गोपियों के पक्ष में जितना कहा गया है, उतना कृष्ण के पक्ष में नहीं । यह यहाँ के शृंगारी कवियों की—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की सामान्य प्रवृत्ति ही रही है । तुल्यानुरागी होने पर भी स्त्रियों की प्रेमदशा या कामदशा का वर्णन करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है । पुराने प्रबंधकाव्यों में यह स्पष्ट झलकता है । वाल्मीकि जी ने रामायण में सीताहरण के उपरांत राम और सीता दोनों के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द व्यय किया है । कालिदास ने मेघदूत का आरंभ यक्ष की विरहावस्था से करके उत्तरमेघ में यक्षिणी के विरह का वर्णन किया है । उनके नाटकों में भी प्रायः यही बात पाई जाती है । अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेमदशा या विरहदशा का प्राधान्य श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्तपुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनंत सौंदर्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिखाया गया ।

पुरुष आलंबन हुआ और स्त्री आश्रय । जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरी में, क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा । 'वनवारी या' 'कन्हैया' नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया । दिल्ली के पिछले बादशाह मुहम्मदशाह रंगिले तक को हेली के दिनों में 'कन्हैया' वनने का शौक हुआ करता था ।

और देशों की फुटकर शृंगारी कविताओं में प्रेमियों के ही विरह आदि के वर्णन की प्रधानता देखी जाती है । जैसे एशिया के अरब, फारस आदि देशों में, वैसे ही यूरोप

के इटली आदि काव्य-संगीत-प्रिय देशों में भी यह पद्धति प्रचलित रही। इटली में पीट्रार्क की श्रृंगारी कविता एक प्रेमिका के हृदय का उद्गार है। भारत में कृष्णकथा के प्रभाव से नायक के आकर्षक रूप में प्रतिष्ठित होने से पुरुषों की प्राधान्यवासना अधिक तृप्त हुई। आगे चलकर पुरुषत्व पर इसका कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। बहुतेरे शौर्य, पराक्रम आदि पुरुषोचित गुणों से मुंह मोड़ 'चटक मटक लटक' लाने में लगे—बहुत जगह तो मांगपट्टी, सुरमे, मिस्सी तक की नौबत पहुँची! यूरोप में, जहाँ स्त्री प्रधान आकर्षण के रूप में प्रतिष्ठित हुई, इसका उलटा हुआ। वहाँ स्त्रियों के बनाव सिंगार और पहनावे के खर्च के मारे पुरुषों के नाकों दम हो गया।

सूर के संयोगवर्णन की बात हो चुकी। इनका विप्रलंभ ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अंतर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं। आरंभ वात्सल्यरस के वियोगपक्ष से हुआ है। कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर नंद और यशोदा दुःखसागर में मग्न हो गए हैं। अनेक दुःखात्मक भावतरंगों उनके हृदय में उठती हैं। कभी यशोदा नंद से खीझकर कहती हैं—

छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो ॥
फाटि न गई वज्र की छाती कत यह सूल सह्यो ॥

इसपर नंद यशोदा पर उलट पड़ते हैं—

तव तू मारिवोई करति ।
रिसनि आगे कहै जो आवत, अत्र लै भाँड़े भरति ।
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर घर धरति ।
कठिन हिय करि तव जो वाँध्यो, अत्र वृथा करि मरति ॥

यह 'भुंभलाहट' वियोगजन्य है, प्रेमभाव के ही अंतर्गत है और कितनी स्वाभाविक है! सुख शांति के भंग का कैसा यथार्थ चित्र है। आगे देखिए, गहरी 'उत्सुकता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कारमिश्रित 'खिभलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है। यशोदा नंद से कहती हैं—

नंद ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय ।
देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ॥

'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है। 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो; तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ।' एक एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो दो, तीन तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भावगुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भावशवलता कहें या भावपंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य 'नंद ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय' में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यंजना—जिसे शवलता ही कहने से संतोष नहीं होता, पाई जाती है। शवलता के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है, पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

गालसखाओं में भी यही दशा हो रही है। कभी वे व्याकुल और अधीर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्ध होकर कहते हैं—

भए हरि मधुपुरी राजा बड़े वंस कहाय ।
सूत मागध बदत विरुदहि वरनि बसुछौ तात ॥
राजभूपन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात ॥

वियुक्त प्रिय के मुख के अनिश्चय की 'शंका' तक न पहुँचती हुई भावना—'दीनता' और शोभत्रय 'उदासीनता'—किस प्रकार इन वचनों से टपक रही है—

मैंनेमो देवकी सों कहियो ।
हीं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करति ही रहियो ॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहि कहि आवै ॥
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतिहि माखन रोटी भावै ॥

कृष्ण राजभवन में जा पहुँचते हैं, यह जानते हुए भी यशोदा के प्रेमपूर्ण हृदय में यह बात जल्दी नहीं बैठती कि कृष्ण के मुख का ध्यान जितना वे रखती थीं उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। केवल उदाहरण की लीक पीटनेवालों के भाग्य में यह बात कहाँ !

आगे चलकर गोपियों की वियोगदशा का जो धाराप्रवाह वर्णन है, उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है। कौन गिना सकता है? संयोग और वियोग दो अंग होने से शृंगार की व्यापकता बहुत अधिक है। इससे वह रभराज कहलाता है। इस दृष्टि से यदि सूरदास को हम रससागर कहें तो वेखटके कह सकते हैं। कृष्ण के चले जाने पर सायं प्रभात तो उसी प्रकार होते हैं, पर 'मदनगोपाल विना या तन की सबै बात बदली'। ब्रज में पहले सायंकाल में जो मनोहर दृश्य देखने में आया करता था, वह अब बाहर नहीं दिखाई पड़ता; पर मन से उसकी 'स्मृति' नहीं जाती—

एहि वेरियाँ बन ते ब्रज आवते ।
दूरहि तें बह वेनु अधर धरि द्वारंवार बजावते ॥

संयोग के दिनों में आनंद की तरंगें उठानेवाले प्राकृतिक पदार्थों को वियोग के दिनों में देखकर जो दुःख होता है उसकी व्यंजना के लिये कवियों में उपालंभ की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चंद्रोपालंभ संबंधिनी बड़ी सुंदर कविताएँ संस्कृत साहित्य में हैं। देखिए, सागरमंथन के समय चंद्रमा को निकालनेवालों तक इस उपालंभ में किस प्रकार गोपियाँ अपनी दृष्टि दीड़ती हैं—

या विनु होत कहा अब सुनो !
लै किन प्रगट किया प्राची दिसि, विरहिनि को दुख दूनो ?
सब निरदय सुर, अमुर, सैल, सखि ? सायर सर्प समेत ॥
धन्य कहीं वर्षा ऋतु, तमचुर औ कमलन को हेत ॥
जुग जुग जीवै जरा वापुरी मिलै राहु अरु केत ॥

इसी पद्धति के अनुसार वे वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम ही निलज, लाज नहि तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ।
ससा स्यार औ वन के पखेरू धिक धिक सबन करे ।
कौन काज ठाढ़े रहे वन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें साँपिन सी लग रही है । साँपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है । ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काटकर उलट जाती है, जिससे सफेद भाग ऊपर हो जाता है । बरसात की अँधेरी रात में कभी कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है वह ऐसी ही लगती है—

पिया विनु साँपिनि कारी राति ।
कवहुँ जामिनि होति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति ॥

इस पद पर न जाने कितने लोग लट्टू हैं ।

सूरदास जी का विहारस्थल जिस प्रकार घर की चारदीवारी के भीतर तक ही न रहकर यमुना के हरे भरे कछारों, करील के कुंजों और वनस्थलियों तक फैला है, उसी प्रकार का उनका विरहवर्णन भी 'वैरिन भई रतियाँ' और 'साँपिन भई सेजिया' तक ही न रहकर प्रकृति के खुले क्षेत्र के बीच दूर दूर तक पहुँचता है । मनुष्य के आदिम वन्य जीवन के परंपरागत मधुर संस्कार को उद्दीप्त करनेवाले इन शब्दों में कितना माधुर्य है—'एक वन डूँढ़ि सकल वन डूँढ़ीं, कतहुँ न श्याम लहीं' । ऋतुओं का आना जाना उसी प्रकार लगा है । प्रकृति पर उनका रंग वैसा ही चढ़ता उतरता दिखाई पड़ता है । भिन्न भिन्न ऋतुओं की वस्तुएँ देख जैसे गोपियों के हृदय में मिलने की उत्कंठा उत्पन्न होती है वैसे ही कृष्ण के हृदय में क्यों नहीं उत्पन्न होती ? जान पड़ता है, ये सब उधर जाती ही नहीं, जिधर कृष्ण बसते हैं । सब वृंदावन में ही आ आकर अपना अड्डा जमाती हैं—

मानौ, माई ? सबन्ह इतै ही भावत ।
अव वहि देश नंदनंदन को कोउ न समौ जनावत ॥
धरत न वन नव पत्र फूल फल, पिक बसंत नहि गावत ।
मुदित न सर सरोज अलि गुंजत, पवन पराग उड़ावत ॥
पावस विविध बरन वर वादर उठि नहि अंबर छावत ।
चातक मोर चकोर सोर करै दामिनि रूप दुरावत ॥

अपनी अंतर्दशा को ऋतुमुत्तम व्यापारों के बीच विव्र-प्रति-विव्र रूप में देखना भाव-मग्न अंतःकरण की एक विशेषता है । इसके वर्णन में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद मिट सा जाता है । ऐसे वर्णन पावस के प्रसंग में सूर ने बहुत अच्छे किए हैं । 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' बहुत प्रसिद्ध पद है । विरहोन्माद में भिन्न भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित होकर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में । उठते हुए बादल कभी तो ऐसे भीषण रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियत चहुँ दिसि ते घनघोरे ।
 मानौ मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे ॥
 कारे तन अति चुवत गंड मद, वरसत थोरे थोरे ।
 रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे ॥

कभी अपने प्रकृत लोकसुखदायक रूप में ही सामने आते हैं और कृष्ण की अपेक्षा
 कहीं दयालु और परोपकारी लगते हैं—

वरु ये बदराऊ वरसन आए ।
 अपनी अवधि जानि, नँदनंदन ! गरजि गगन घन छाए ।
 कहियत है सुरलोक वसत, सखि ? सेवक सदा पराए ॥
 चातक कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ ते धाए ।
 तूण किए हरित, हरपि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए ॥

‘बदराऊ’ के ‘ऊ’ और ‘वरु’ में कैसी व्यंजना है। ‘बादल तक’—जो जड़ समझे
 जाते हैं—आश्रितों के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं ।

प्रिय के साथ रूपसाम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते हैं—

आजु घन श्याम की अनुहारि !
 उनै आए साँवरे ते सजनी ! देखि रूप की आरि ॥
 इंद्रधनुष मनो नवल वसन छवि, दामिनि दसन विचारि ।
 जनु बगपांति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि ॥

इसी प्रकार पपीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुःख
 बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनता है—

हीं तो मोहन के विरह जरी, रे ! तू कत जारत ?
 रे पापी तू पंखि पपीहा ! ‘पिउ पिउ पिउ’ अधिराति पुकारत ॥
 सब जग सुखी, दुखी तू जल विनु, तऊ न तन की विथहि विचारत ।
 सूर स्याम दिनु ब्रज पर बोलत, हठि अगिलोऊ जनम विगारत ॥

और कभी समदुःखभोगी के रूप में अत्यंत सुहृद् जान पड़ता है और समान प्रेम-
 ब्रत पालन के द्वारा उनका उत्साह बढ़ाता प्रतीत होता है—

बहुत दिन जीवौ, पपीहा प्यारो ।
 वासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो विरह जुर कारो ॥
 आपु दुखित पर दुखित जान जिय चातक^१ नाम तिहारो ।
 देखौ मकल विचारि सखी ! जिय विछुरन को दुख न्यारो ॥
 जाहि लगै सोई पै जानै प्रेमवान अनियारो ।
 सूरदास प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो ॥

काव्यजगत् की रचना करनेवाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक
 द्वारा परिचालित अंतर्दृष्टि जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट छाँटकर सामने

१. चातक = (चत् = माँगना), याचना करनेवाला ।

रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कविकल्पना कह सकते हैं। यों ही सिरपच्ची करके— बिना किसी भाव में मग्न हुए—कुछ कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ कहने लगना या तो वावलापन है, या दिमागी कसरत, सच्चे कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हों उनके संबंध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सँभालनेवाले या बढ़ानेवाले होकर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिये—कुतूहल उत्पन्न करने के लिये—जबरदस्ती पकड़कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदयप्रेरित हुए। अँगरेज कवि कालरिज ने, जिसने कविकल्पना पर अच्छा विवेचन किया है, अपनी एक कविता^१ में ऐसे रूपावरण को आनंदस्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावरण (कल्पना का) जीवन में साथ लगा चलता है तब तक दुःख की परिस्थिति में भी आनंदस्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक काव्यमीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझकर कह दिया है— 'कल्पना आनंद है' (इमैजिनेशन इज ज्वाय^२)।

सच्चे कवियों की कल्पना की बात जाने दीजिए, साधारण व्यवहार में भी लोग जोश में आकर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं वह भी किसी पहाड़ को 'शिशु' और 'पांडव' कहनेवाले कवियों के व्यवहार से कहीं उचित होता है। किसी निष्ठुर कर्म करनेवाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है, क्योंकि विरक्ति या घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अंतर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है; जिससे भाव की मात्रा के अनुरूप आलंबन खड़ा हो जाता है। 'हत्यारा' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का व्यंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे 'बकरा' कहे, तो या तो किसी भाव की व्यंजना न होगी या किसी ऐसे भाव की होगी जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाला कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव को प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते हैं वह इसीलिये कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है उसकी व्यंजना नहीं होती।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकारविधान में उपर्युक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुरु या क्रिया के पृथक् पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है वहाँ वह उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापारसमष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है वहाँ दृष्टांत, अर्थातरन्यास और अन्यायित का। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाय—चाहे वह वस्तु, गुरु या क्रिया ही अथवा व्यापारसमष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगानेवाला हो जिस प्रकार का प्रस्तुत। व्यापारसमष्टि के समन्वय में कवि की सहृदयता का जिस पूर्णता के साथ हमें दर्शन होता है उस पूर्णता के साथ वस्तु,

१. डिजेक्शन ओड, ४ थी अप्रैल, १८०२।

२. ४ जी० डब्ल्यू० मैकीज लेक्चर्स आन पोएट्री।

क्रिया आदि के पृथक् पृथक् समन्वय में नहीं। इसी से सुंदर अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शनी होती हैं। चूना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा—जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम जीवन में सुलभ दृश्यों के अंतर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा। सूरदास जी ने कई स्थानों पर अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अत्यंत मनोरम व्यापारसमष्टि की योजना की है। कोई गोपिका या राधा स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सुख प्राप्त कर रही थी कि उसकी नींद उचट गई। इस व्यापार के मेल में कैसा प्रकृतिव्यापी और गूढ़ व्यापार सूर ने रखा है, देखिए—

हमको सपनेहू में सोच ।

जा दिन तें विछुरे नंदनदन ता दिन तें यह पोच ।

मनी गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही ।

कहा करौं वैरिनि भइ निदिया, निमिष न और रही ।

ज्यों चकई प्रतिविब देखि कै आनंदी पिय जानि ।

सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि ॥

स्वप्न में अपने ही मानस में किसी का रूप देखने और जल में अपना ही प्रतिविंब देखने का कैसा गूढ़ और सुंदर साम्य है। इसके उपरांत पवन द्वारा प्रशांत जल के हिल जाने से छाया का मिट जाना कैसा भूतव्यापी व्यापार स्वप्नभंग के मेल में लाया गया है।

इसी प्रकार प्राकृतिक चित्रों द्वारा सूर ने कई जगह पूरे प्रसंग की व्यंजना की है। जैसे गोपियाँ मथुरा से कुछ ही दूर पड़ी विरह से तड़फड़ा रही हैं, पर कृष्ण राजसुख के आनंद में फूले नहीं समा रहे हैं। यह बात वे इस चित्र द्वारा कहते हैं—

सागरकूल मीन तरफत है, हुलसि होत जल पीन ।

जैसा ऊपर कहा गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—सृष्टि खड़ी करनेवाली—कल्पना कहते हैं, उसकी पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिये कोई दूसरी अप्रस्तुत वस्तु—जो कि प्रायः कविपरंपरा में प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पड़ती जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है। सूरदास जी ने कल्पना की इस पूर्णता का पचिरय जगह जगह दिया है, इसका अनुमान ऊपर उद्धृत पदों से हो सकता है। कबीर, जायसी आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इस जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा परोक्ष जगत् की कुछ धुंधली सी भलक दिखाने के लिये इसी अन्योक्ति की पद्धति का अवलंबन किया है, जैसे—

हंसा प्यारे ! सरवर तजि कहँ जाय ?

जहि सरवर विच मोती चुनते, बहुविधि केलि कराय ॥

सूख, ताल पुरइनि जल छोड़े, कमल गए कुँभिलाय ।

कह कबीर जो अबकी विछुरै, बहुरि मिलै कब आय ॥

रहस्यवादी कवियों के समान सूर की कल्पना भी कभी कभी इस लोक का अति-क्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती है; जैसे—

चकई री ! चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग ।

निसि दिन राम राय की वर्षा, भय रुज नहि दुख सोग ॥

जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनि-जन-नख-रवि-प्रभा-प्रकाश ॥
 प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससि डर, गुंजत निगम सुवास ।
 जंहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै ॥
 सो सर छाँड़ि कुदुद्धि विहंगम ! इहाँ कहाँ रहि कीजै ?

पर एक व्यक्तवादी सगुरोपासक कवि की उक्ति होने के कारण इस चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुंधलापन नहीं है । कवि अपनी भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिये जगह जगह आकुल दिखाई पड़ता है, इसी से अन्योक्ति का मार्ग छोड़कर जगह जगह उसने रूपक का आश्रय लिया है । इसी अन्योक्ति का दीनदयाल जी गिरि ने अच्छा निर्वाह किया है—

चल चकई ? वा सर विषय जहँ नहि रैनि विछोह ।
 रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंससंदोह ॥
 सुहृद हंस संदोह, कोह अरु द्रोह न जाके ।
 भोगत सुख अंबोह, मोह दुख होय न ताके ॥
 बरनै दीनदयाल भाग्य विनु जाय न सकई ।
 प्रिय मिलाप नित रहै, ताहि सर तू चल चकई ॥

इसी अन्योक्ति पद्धति को कवींद्र रवींद्र ने आजकल अपने विस्तृत प्रकृतिनिरीक्षण के बल से और अधिक पल्लवित करके जो पूर्ण और भव्य स्वरूप प्रदान किया है वह हमारे नवीन हिंदी साहित्य क्षेत्र में 'गाँव में नया नया आया ऊँट' हो रहा है । बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौसला हो गया है । जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिये श्रीयुत रवींद्र प्रकृति के क्रीड़ास्थल से लेकर नाना मूर्त स्वरूप खड़ा करते हैं वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखनेवाले बहुतेरे ऊटपटाँग चित्र खड़ा करने और कुछ असंबद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद' की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गए हैं । चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है, पर कहने के लिये कोई बात भी तो हो । कुछ तो काव्यरीति से सर्वथा अनभिज्ञ, छंद, अलंकार आदि के ज्ञान से बिलकुल कोरे देखे जाते हैं । बड़ी भारी बुराई यह है कि अपने को एक 'नए संप्रदाय' में समझ अहंकारवश वे कुछ सीखने का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की ओट में छिपाना चाहते हैं । मैंने कई एक से उन्हीं की रचना लेकर कुछ प्रश्न किए, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई गंभीर तत्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—पाया । ऐसों के द्वारा काव्य-क्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान, पाखंड के प्रचार की आशंका है । अतः आवश्यकता इस बात की है कि रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप और उसका इतिहास आदि साहित्यसेवियों के सामने रखा जाय तथा पुराने और नए रहस्यवादी कवियों की रचनाओं की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा रहस्यवाद की कविता के साहित्यिक स्वरूप की मीमांसा की जाय ।

यहाँ तक तो सूर की सहृदयता की बात हुई । अब उनकी साहित्यिक निपुणता के संबंध में भी दो चार बातें कहना आवश्यक है । किसी कवि की रचना के विचार के सुबोते के लिये हम दो पक्ष कर सकते हैं—हृदयपक्ष और कलापक्ष । हृदयपक्ष का कुछ दिग्दर्शन हो चुका । अब सूर की कलानिपुणता के, काव्य के बाह्यांग के, संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी उनमें पूर्ण रूप से वर्तमान है । यद्यपि काव्य

में हृदयपक्ष ही प्रधान है, पर वहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। रीति, अलंकार, छंद ये सब वहिरंग विधान के अंतर्गत हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति में सहायता पहुँचती है। सूर, तुलसी, विहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदयपक्ष की प्रधानता है, कलापक्ष में (अलंकारों का बहुत कुछ व्यवहार होते हुए भी) त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कलापक्ष ही प्रधान है, हृदयपक्ष न्यून है।

यह तो आरंभ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीतिकाव्यों की शैली पर है, जिसमें सूर और लय के सौंदर्य और माधुर्य का भी रस-परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इसमें वह संगीतप्रेमियों के लिये भी बड़ा भारी खजाना है। नादसौंदर्य के साधनों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। संस्कृत के गीतगोविंद में कोमलकांत पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। विद्यापति की रचना में कोमल पदावली का आग्रह तो है, पर अनुप्रास का उतना नहीं। सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्तिविधान और अनुप्रास की ओर भुकाव कम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ने पाई है। भावुक सूर ने अपना 'शब्दशोधन' दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्यभाषा होने से यद्यपि उसमें कहीं कहीं संस्कृत के पद, कवि के समय से पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा ब्रज से दूर दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी माला इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ अंतर पड़े या कृत्रिमता आवे। श्लेष और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाए जाते हैं।

अर्थालंकारों की अलवत पूर्ण प्रचुरता है, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्यप्रसिद्ध और परंपरागत ही हैं; तथापि स्वकल्पित नए नए उपमानों की भी कभी नहीं है। कहीं कहीं तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिए गए हैं, वे प्रसंग के बीच बड़ी ही अनूठी उद्भावना के साथ बैठे गए हैं। स्फटिक के आंगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ पैर का प्रतिबिंब पड़ता चलता है। इसपर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

फटिक भूमि पर कर पग छाया यह शोभा अति राजति ।
करि करि प्रति पद प्रति मनो वसुधा कमल बैठकी साजति ॥

रूप या अंगों की शोभा के वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा की भरमार बराबर मिलेगी। इनमें बहुत सी तो पुरानी और बँधी हुई हैं और कुछ नवीन भी हैं। उपमा और उत्प्रेक्षा की सबसे अधिकता 'हरि जू की बालछवि' के वर्णन में पाई जाती है; यों तो जहाँ जहाँ रूपवर्णन है, सर्वत्र ये अलंकार भरे पड़े हैं। उपमान सब तरह के हैं, पृथ्वी पर के भी और पृथ्वी के बाहर के भी—सामान्य प्राकृतिक व्यापार भी और पौराणिक प्रसंग भी। पिछले प्रकार के उपमानों के उदाहरण इस प्रकार के हैं—

- (क) नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकत भाल हराई ।
सनि, गुरु, असुर, देवगुरु मिलि मनो भीम सहित समुदाई ।

- (ख) हरि कर राजत माखन रोटी ।
मनौ बराह भूधर सह पृथिवी धरि —

अंगशोभा और वेशभूषा आदि के वर्णन में सूर को उपमा देने की भक्त सी चढ़ जाती है और वे उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा कहते चले जाते हैं। इस भक्त में कभी कभी परिमिति या मर्यादा का विचार (संस आद्य प्रोयोगान) नहीं रह जाता, जैसे ऊपर के उदाहरण (ख) में कहाँ मकखन लगी हुई छोटी सी रोंटी और कहाँ गोल पृथ्वी ! हाँ, जहाँ ईश्वरत्व या देवत्व की भावना से किसी छोटे व्यापार द्वारा अत्यंत बृहद् व्यापार की ओर संकेत मात्र किया है, वहाँ ऐसी बात नहीं खटकती, जैसे इस पद में—

मथत दधि मथनी लेकि रह्यो ।

आरि करत मटकी गहि मोहन वासुकि संभु डरघो ॥

मंदर डरत सिंधु पुनि कांपत फिरि जनि मथन करै ॥

प्रलय होय जनि गहे मयानी, प्रभु मर्याद टरै ॥

पर उक्त दोनों उदाहरणों के संबंध में तो इतना विना कहे नहीं रहा जाता कि ऐसे ही उपमान बहुत काव्योपयोगी नहीं जँचते। काव्य में ऐसे ही उपमान बहुत अच्छी सहायता पहुँचाते हैं जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जनसाधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है। न शनि का कोयले सा कालापन ही किसी ने आँखों देखा है, न वराह भगवान् का दाँत की नोक पर पृथ्वी उठाना। यह बात दूसरी है कि केशव ऐसे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने भी 'भानु मनो शनि अंक लिए' जैसी उत्प्रेक्षा की ओर रुचि दिखाई है।

हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञानविज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म और बृहत् से बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिये खुलते जाते हैं, उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्भुत रूपों और व्यापारों का—जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष नहीं हैं—काव्य में उपयोग करके उसके क्षेत्र का विस्तार न किया जाय। उनका प्रयोग किया जाय, कवि की प्रतिभा द्वारा वे गोचर रूप में सामने लाए जायँ, केवल अंग, आभूषण आदि की उपमा के लिये नहीं। ज्योतिर्विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, वनते बिगड़ते रंग विरंग के पिंडों, अपार ज्योतिसमूहों आदि का पता लगा है जिनके सामने पृथ्वी किसी गिनती में नहीं। कोई विश्वव्यापिनी ज्ञानदृष्टिवाला कवि यदि विश्व की कोई गंभीर समस्या लेकर उसे काव्यरूप में रखना चाहता है तो वह इन सबको हस्तामलक बनाकर सामने ला सकता है।

सूरदास जी में जितनी सहृदयता और भावुकता है; प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता (विट) भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढंग उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है? वचनरचना की उस वक्रता के संबंध में आगे विचार किया जायगा। यहाँ पर हम वैदग्ध्य के उस उपयोग का उल्लेख करना चाहते हैं जो आलंकारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिये किया गया है। साहित्यप्रसिद्ध उपमानों को लेकर सूर ने बड़ी बड़ी क्रीड़ाएँ की हैं। कहीं उनको लेकर रूपकातिशयोक्ति द्वारा 'अद्भुत एक अनूपम बाग' लगाया है, कहीं जब जैसा जी चाहा, उन्हें संगीतसिद्ध करके दिखा दिया है, कहीं असंगत। गोपियाँ वियोग में कुढ़कर एक स्थान पर कृष्ण के अंगों के उपमानों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्यायसंगत ठहराती हैं—

उधो ! अब यह समुक्ति भई ।

नैदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई ॥

कुंतल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई ।
 तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई ॥
 आनन इंदुवरन संमुख तजि करखे तें न नई ।
 निरमोही नहि नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई ॥
 तन घनश्याम सेइ निसि वासर, रटि रसना छिजई ।
 सूर विवेकहीन चातकमुख वूंदौ तौ न सई ॥

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर वे अपने नेत्रों के उपमानों को अनुपयुक्त ठहराती हैं—

उपमा एक न नैन गही ।
 कविजन कहत कहत चलि आए, सुधि करि करि काहू न कही ॥
 कहे चकोर, मुख विधु विनु जीवत, भँवर न तहँ उड़ि जात ।
 हरिमुख कमलकोस विछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
 खंजन मन रंजन जन जौ पै कबहुँ नाहि सतरात ।
 पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर समीप बिकात ॥
 आए, वधन, व्याध ह्वै उधो, जौ मृग क्यों न पलाय ।
 देखत भागि वसै घन वन में जहँ कोउ संग न धाय ॥
 ब्रजलोचन विनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त ।
 सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त ॥

दोनों उदाहरणों में उपमानों की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता का जो आरोप किया गया है, वह हृदय के क्षोभ से। यदि कोई कठहुज्जती इन्हीं उपमानों को लेकर कहने लगे—'वाह ! नेत्र भ्रमर कैसे हो सकते हैं ? भ्रमर होते तो उड़ जाते। मृग कैसे हो सकते हैं ? मृग होते तो जमीन पर चौकड़ी न भरते।' तो उसके कथन में कुछ भी काव्यत्व न होगा।

उपमानों की आनंददशा का वर्णन करके इसी प्रकार सूर ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' द्वारा राधा के अंगों और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहीन और मंद होना व्यंजित किया है—

तव ते इन सवहिन सचुपायो ।
 जब तें हरि संदेस तिहारो सुनत ताँवरो आयो ।
 फले व्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो ॥
 ऊँचै वैठि विहंग सभा विच कोकिल मंगल गायो ।
 निकसि कंदरा तें केहरि हू माथे पूँछ हिलायो ॥
 वनगृह तें गजराज निकसि कै अँगअँग गर्व जनायो ।

चेष्टाओं और अंगों का मंद और श्रीहीन होना कारण है और उपमानों का आनंदित होना कार्य है। यहाँ अप्रस्तुत कार्य के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना की गई है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जानकी के न रहने पर उपमानों का प्रसन्न होना रामके मुख से कहलाया है—

कुंदकली, दाड़िम, दामिनी । कमल, सरदससि, अहि भामिनी ॥
 श्रीफल कनक कदलि हरपाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
 सुनु जानकी ! तोहि विनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥

पर यहाँ उपमानों के आनंद से केवल सीता के न रहने की व्यंजना होती है । सूर की 'प्रस्तुत प्रशंसा' में उक्ति का चमत्कार भी कुछ विशेष है और रसात्मकता भी । दूर की सूभ या ऊहावाले चमत्कारप्रधान पद भी सूर ने बहुत से कहे हैं, जैसे—

(क) दूर करहु विना कर धरिवो ।

मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यों, नाहिन होत चंद्र को ढरिवो ॥

(ख) मन राखन को वेनु लियो कर, मृग थाके उहुपति न चरै ।

अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर, जेहि भामिनि का करुन टरै ॥

राधा मन बहलाने के लिये, किसी प्रकार रात बिताने के लिये, वीणा लेकर बैठी । उस वीणा या वेणु के स्वर से मोहित होकर चंद्रमा के रथ का हिरन अड़ गया और चंद्रमा के रुक जाने से रात और भी बढ़ गई । इसपर घबराकर वे सिंह का चित्र बनाने लगीं जिसमें मृग डरकर भाग जाय । जायसी की 'पद्मावत' में भी यह उक्ति ज्यों की त्यों आई है—

गहे वीन मकु रैन विहाई । ससिवाहन तहँ रहै ओनाई ॥

पुनि धनि सिंह उरैहै लागै । ऐसिहि विथा रैन सब जागै ॥

जायसी की पद्मावत विक्रम संवत् १५६७ में बनी । सूरसागर संवत् १६०७ के लगभग बन चुका था । अतः जायसी की रचना कुछ पूर्व ही मानी जायगी । पूर्व की न सही, तो भी किसी एक ने दूसरे से यह उक्ति ली हो, इसकी संभावना नहीं । उक्ति सूर और जायसी दोनों से पुरानी है । दोनों ने स्वतंत्र रूप में इसे कविपरंपरा द्वारा प्राप्त किया ।

कहीं कहीं सूर ने कल्पना को अधिक बढ़ाकर, या यों कहिए कि ऊहा का सहारा लेकर—जैसा पीछे विहारी ने बहुत किया—वर्णन कुछ अस्वाभाविक कर दिया है । चंद्र की दाहकता से चिढ़कर एक गोपी राधा से कहती है—

कर धनु लै किन चंद्रहिं ? मारि ।

तू ह्रस्वाय जाय मंदिर चढ़ि ससि संमुख दर्पन बिस्तारि ।

याही भाँति बुलाय, मुकुर महि अति बल खंड खंड करि डारि ॥

गोपियों का विरहोन्माद कितना ही बढ़ा हो पर उनकी बुद्धि बिल्कुल बच्चों की सी दिखाना स्वाभाविक नहीं जंचता । कविता में दूर की सूभ या चमत्कार ही सब कुछ नहीं है ।

पावस के घनगर्जन आदि वियोगिनी को संतापदायक होते हैं, यह तो एक बँधी चली आती हुई बात है । सूर ने एक प्रसंग कल्पित करके इस बात को ऐसी युक्ति से रख दिया है कि पावस आने पर सखियाँ राधा को मालूम ही नहीं होने देतीं कि पावस आया है । वे और बातें बताकर उन्हें बहकाती रहती हैं।—

बातें ब्रूत यौ बहरावति ।

सुनहु स्याम ! वै सखी सयानी पावस ऋतु राधहिं न सुनावति ।

घन गरजत तौ कहत कुसलमति गूँजत गुहा सिंह समुभावति ।

नहिं दामिनि, द्रुम दवा सैल चढ़ी फिरि बयारि उलटी भर लावति ॥

नाहिन मोर बकत पिक दादुर, ग्लावमंडली खगन खेलावति ॥

सूर को वचनरचना की चतुराई और शब्दों की क्रीड़ा का भी पूरा शौक था। त्रीच त्रीच में आए हुए कूट पद इस बात के प्रमाण हैं, जिनमें या तो अनेकार्थवाची शब्दों को लेकर या किसी एक वस्तु को सूचित करने के लिये अनेक शब्दों की लंबी लड़ी जोड़कर खेनवाड़ किया गया है। सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हें कुछ खेल तमाशे का भी शौक था। लीलापुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होनी ही चाहिए। तुलसी के गंभीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता। अपनी इसी शब्दकौशल की प्रवृत्ति के कारण सूर ने व्यवहार के कुछ पारिभाषिक शब्दों को लेकर भी एकाध जगह उक्तियाँ बाँधी हैं; जैसे—

साँचो सो लिखवार कहावै ।

काया ग्राम मसाहत करिकैं, जमा बाँधि ठहरावै !

मन्मथ करै वैद अपनी में जान जहतिया लावै ॥

काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। आचार्यों ने 'अप्रतीतत्व' दोष के अंतर्गत इस बात का संकेत किया है। सूर भी एकाध जगह ही ऐसी उक्तियाँ लाए हैं, पर वे 'प्रेमफौजदारी' ऐसी पुस्तकों के लिये नमूने का काम दे गई हैं।

गोस्वामी तुलसीदास

प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्यात्याग और पथिक के रूप में वनगमन; चित्रकूट में राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण की ज्वलित लगने पर रामविलाप; भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।

एक सुंदर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन वन फिरने से अधिक मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है? इस दृश्य का गोस्वामी जी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यंत सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली में तो इस प्रसंग के सबसे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्रामवधुओं का संनिवेश किया है। ये स्त्रियाँ राम जानकी के अनुपम सौंदर्य पर स्नेहशिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तान्त सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैकेयी की कुचाल पर भला बुरा कहती हैं। सौंदर्य के साक्षात्कार से थोड़ी देर के लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, वे अपने को भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकारबुद्धि की जननी है—

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहि जाई ॥
सुनि सब बालवृद्ध नरनारी। चलहि तुरत गृह काज विसारी ॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफल होहि सुखारी ॥
सजल विलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दाउ बीरा ॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहि संग लागे ॥

एक देखि बटछाँह भलि, डासि मृदुल तन पात।
कहहि 'गँवाइय छिनुक स्रम, गवनव अवहि कि प्रात' ॥

राम जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्यवर्णन करने में गोस्वामी जी ने कुछ उठा नहीं रखा। सुशीलता के आगार रामचंद्र प्रसन्नमुख निकलकर दास दामियों को गुरु के सुपुत्र कर रहे हैं, सबसे वही करने की प्रार्थना करते हैं जिससे राजा का दुःख कम हो। उनकी सर्वभूतव्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग में पशु पक्षी भी विवश हैं। भरत जी जब लौटकर अयोध्या आए, तब उन्हें सर सरिताएँ भी श्रीहीन दिखाई पड़ीं, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि रामगमन का संवाद मिल गया होता तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर में जाने के पहले उन्हें कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं था।

इससे हम सरिता के श्रीहीन होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग रामवियोग में विकल पड़े हैं; सर सरिता में जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हें कहाँ ? पर यह अर्थ हमारे आपके लिये है। गोस्वामी जी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग में अयोध्या की भूमि विपादमग्न हो रही है, आठ आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघरित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह भाँकी अपूर्व है ! 'भायप भगति' से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं—

राम वासथल विटप विलोके । उर अनुराग रहत नहि रोके ॥

मार्ग में लोगों से पूछते जाते हैं, कि राम किस वन में हैं। जो कहता कि हम उन्हें सकुशल देखे आते हैं, वह उन्हें राम लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रिय संबंधी आनंद के अनुभव की आशा देनेवाला एक प्रकार के उस आनंद को जगानेवाला है—'उद्दीपन' है। सब माताओं से पहले राम कैकेयी से प्रेमपूर्वक क्यों मिले ? क्या उसे चिढ़ाने के लिये ? कदापि नहीं ? कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिलने की सबसे अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्व या सहिष्णुता दिखाने के लिये नहीं, उसके परितोष के लिये। अपनी करनी पर कैकेयी को जो ग्लानि थी वह राम ही के दूर किए हो सकती थी, और किसी के किए नहीं। उन्होंने माताओं से पिलते समय स्पष्ट कहा था—

अंव ! ईस आधीन जग, काहु न देइय दोषु ।

कैकेयी को ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकार के संदेह का स्थान गोस्वामी जी ने नहीं रखा। कैकेयी की कठोरता आकस्मिक थी, स्वभावगत नहीं; स्वभावगत भी होती तो भी राम की सरलता और सुशीलता उसे कोमल करने में समर्थ थी।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई । कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥

अवनि जमहि जाँचति कैकेई । महि न वीचु, विधि मीचु न देई ॥

जिस समाज के शीलसंदर्भ की मनोहारिणी छटा को देख वन के कोल किरात मुग्ध होकर सात्विक वृत्ति में लीन हो गए उसका प्रभाव उसी समाज में रहनेवाली कैकेयी पर कैसे न पड़ता ?

(क) भए सव साधु किरात किरातिनि, राम दरस मिटि गई कलुषाई ।

(ख) कोन किरात भिल्ल वनवासी । मधु सुचि सुंदर स्वाहु सुधा सी ॥

भरि भरि परनपुटी रुचि करी । कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥

सवहि देहि करि विनय प्रनामा । कहि कहि स्वाद भंद गुन नामा ॥

देहि लोग बहु मोल न लेहीं । फेरत राम दोहाई देहीं ॥

और सबसे पुलकित होकर कहते हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुन वन पगु धारे । सेवा जोगु न भाग हमारे ॥

दब काह हम तुमहि गोमाई । ईधन पात किरात मितार्ई ॥

यह हमार अति बड़ि सेवकाई । लेहि न वासन वसन चोराई ॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥
सपनेहुँ धरमबुद्धि कस काऊ । यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ ॥

उस पुण्यसमाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई । उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्मज्योति फूटी, उससे आसपास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है । चित्रकूट की उस सभा की काररवाई क्या थी, धर्म के एक एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी । रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है । धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी । यह संभावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है । राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामातू, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्मगांभीर्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ । धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जंगली । यदि भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र देखना हो तो इस राजसमाज में देखिए । कैसी परिष्कृत भाषा में कैसी प्रवचनपटुता के साथ प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे बड़े की मर्यादा का किस सरलता के साथ पालन होता है । सबकी इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटें, पर उनके स्थान पर भरत बन को जायँ, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो । अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए हुए लोग सभा में बैठते हैं पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गंभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता । राजा के सत्यपालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खंडित देखना वे नहीं चाहते । जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें, उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते हैं ।

इस प्रसंग में परिवार और समाज की ऊँची नीची श्रेणियों के बीच कितने संबंधों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, देखिए—

(१) राजा और प्रजा का संबंध लीजिए । अयोध्या की सारी प्रजा अपना सब कामधंधा छोड़ भरत के पीछे पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट में राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है चौदह वर्ष यहीं काट दें ।

(२) भरत का अपने बड़े भाई के प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्तिभाव यहाँ से वहाँ तक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है ।

(३) ऋषि या आचार्य के संमुख प्रगल्भता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत प्रकट करते सकुचाते हैं ।

(४) राम सब माताओं से जिस प्रकार प्रेमभाव से मिले, वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नहीं है, उनके अंतःकरण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है ।

(५) विवाहित कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनक जो यह हर्ष प्रकट करते हैं—

पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ । सुजस धवल जग कह सब कोऊ ॥
वह धर्मभाव पर मुग्ध होकर ही ।

(६) भरत और राम दोनों जनक को पिता के स्थान पर कहकर सब भार जन्हीं पर छोड़ते हैं ।

(७) सीता जी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी हैं । इतने में रात हो जाती है और वे असमंजस में पड़ती हैं—

कहत न सीय सकुचि मन माहीं । इहाँ बसव रजनी भल नाहीं ॥

पति तपस्वी के वेश में भूशय्या पर रात काटे और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाटवाट के बीच रहे, यही असमंजस की बात है ।

(८) जव से कौणल्या आदि आई हैं, तब से सीता बराबर उनकी सेवा में लगी रहती हैं ।

(९) ब्राह्मणवर्ग के प्रति राजवर्ग के आदर और संगान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पड़ता है, वैसी ही ब्राह्मण वर्ग में राज्य और लोक के हितसाधन की तत्परता भलक रही है ।

(१०) केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि का उसे आलिंगन करने में उभय पक्ष का व्यवहारसंछ्व प्रकाशित हो रहा है ।

(११) वन्य कोल किरातों के प्रति सबका कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है ।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानवस्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे । इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है ! जीवनस्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं ! इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता । जो केवल दांपत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते । और उसे श्रोता या पाठक के समुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें । हिंदी के कवियों में इस प्रकार की मर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके भाव से रामचरित-मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है । वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरंत बालक रामलक्ष्मण के प्रयास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं, जिसके भीतर आत्मावलंबन का विकास होता है । फिर आचार्यविषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर जाकर सीताराम के परम पवित्र दांपत्यभाव के दर्शन करते हैं । इसके उपरान्त अयोध्यात्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है । तदनंतर पथिक वेशधारी राम जानकी के साथ साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री पुरुषों के उस विणुद्ध सात्विक प्रेम का अनुभव करते हैं जिसे हम दांपत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है ।

रमणीय वनपर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू के साथ दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तित करते पाकर वे वीरभोग्या वसुधरा की सत्यता हृदयगम करते हैं। सीताहरण पर विप्रलंब शृंगार का माधुर्य देखकर पाठक फिर लंकादहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शांतरस का पुट तो बीच बीच में बराबर मिलता ही है। हास्यरस का पूर्ण समावेश रामचरितमानस के भीतर न करके नारदमोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानव जीवन के सुख और दुःख दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर गोस्वामी जी के महत्व पर मुग्ध होते हैं और स्थूल बहिरंग दृष्टि रखनेवाले भी लक्षणग्रंथों में गिनाए हुए नव रसों और अलंकारों पर अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी मनुष्य जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो संनिवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानवदशाओं का संनिवेश आपसे आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्दशक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता। मानवप्रकृति के जितने रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो कहरा आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता तुलसीदास के हृदय में विव-प्रति-बिब भाव से विद्यमान है।

गोस्वामी जी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, तो ये इतने सर्वप्रिय कैसे होते? भावों के साधारण उद्गार से ही सबकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह बात अवश्य है कि जो भाव सबसे अधिक प्रकृतिस्थ है उसकी व्यंजना सबसे अधिक गूढ़ और ठीक है। जो प्रेमभाव अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है। वह घन और चातक का प्रेम है?

एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास।

एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

अपना उद्देश्य वह आप ही है। उसकी प्यास, उसकी उत्कंठा सदा बनी रहें, इसी में उसकी मर्यादा है, इसी में उसका महत्व है

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि।

प्रम तृषा वाढति भली, घटे घटैगी आनि ॥

प्रिय के लाख दुव्यवहार से भी वह हटनेवाला नहीं है—

बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टुक।

तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि चूक ॥

त्रि० ६ (२,१००-७३)

उपल वरपि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कवहुँ दूसरी ओर ?

वह मेघ के लोकहितकर स्वरूप के प्रति आपसे आप है—वह जगत् के हित को देखकर है—

जीव चराचर जहँ लग, हैं सवको हित मेह ।
तुलसी चातक मन वस्यौ, घन सों सहज सनेह ॥

जगत् में सब अपने सुख के लिये अनेक साधन और यत्न करते हैं और फलप्राप्ति से सुखी होते हैं । फिर चातक और मेघ का यह प्रेम कैसा है जिसके भीतर न किसी सुख का साधन है, न फल की चाह ? यह ऐसा ही कुछ है—

साधन सांसति सव सहत, सवहि सुखद फल लाहु ।
तुलसी चातक जलद की, रीभि बूभि बुध काहु ॥

चातक को मेघ का जीवों को सुख देना अत्यंत प्रिय लगता है । वह जो वारहों महीने चिल्लाता रहता है, सो अधिकतर प्रिय के सुखदायक मनोहर रूप के दर्शन के लिये, केवल स्वाति की बूंदों के लिये नहीं—

जाँचै वारह मास, पियै पपीहा स्वाति जल ।

उसकी याचना के भीतर जगत् की याचना है, अतः इस याचना से उसका मान है । इस माँगने को वह अपना माँगना नहीं समझता—

नहि जाँचक नहि संग्रही, सीस नाइ नहि लेइ ।
ऐसे मानी माँगनेहि, को वारिद विनु देइ ॥

अब इस प्रेम की अनन्यता का स्वरूप देखिए—

चरग चंगुगत चातकहि, नेम् प्रेम की पीर ।
तुलसी परवस हाइ पर, परिहै पुहमी नीर ।
वध्यो वधिक परचो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच ।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहुँ लगी न खोंच ॥

चातक का प्रिय लोकसुखदायी है । उसका मेघ सचमुच बड़ा है और सबके लिये बड़ा है । अतः चातक के प्रेम के भीतर महत्व की आनंदमयी स्वीकृति छिपी हुई है । इस महत्व के संमुख वह जो दीनता प्रकट करता है वह सच्ची दीनता है, हृदय के भीतर अनुभव की हुई दीनता है, प्रेम की दीनता है । किसी महत्व की सच्ची अनुभूति से उत्पन्न दीनता से भिन्न दीनता को लोभ, भय आदि का बदला हुआ रूप समझिए । जिससे बड़ा चातक और किसी को नहीं समझता, उसे छोड़ यदि और किसी के सामने वह दीनता प्रकट करे तो उसकी दीनता की सचाई में फर्क आ जाय, उसके प्रेम की अनन्यता भंग हो जाय । जो आज एक से कहता है कि 'आपसे न माँगें तो और किससे माँगने जायगे और कल दूसरे से, वह उस दैन्य तक पहुँच ही नहीं सकता जो भक्ति का अंग है । जिस महत्व के प्रति सच्ची दीनता प्रकट की जाती है उसका कुछ आभास लोक की उस दीनता में दिखाई पड़ता है—

तीन लोक तिहुँ काल जस, चातक ही के माथ ।
तुलसी जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ ॥

इस प्रेम के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि यह समान के प्रति नहीं है, अपने से बड़े या ऊँचे के प्रति है । गोस्वामी जी अपने से बड़े या छोटे के साथ प्रेम करने को समान के साथ प्रेम करने से अच्छा समझते हैं—

कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाविष होइ ॥

इससे उनका भीतरी अभिप्राय यह है कि छोटे बड़े के संबंध में धर्मभाव अधिक है । यदि प्रिय हमसे छोटा है तो उसपर जो हमारा प्रेम होगा वह दया, दाक्षिण्य, अनुकंपा; साहाय्य इत्यादि वृत्तियों को उभारेगा, यदि प्रिय हमसे बड़ा है तो उसपर आलंबित प्रेम श्रद्धा, संमान, ईर्ष्य, नम्रता, संकोच, कृतज्ञता, आज्ञाकारिता इत्यादि को जागृत करेगा । इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि हमारे गोस्वामी जी का प्रेम दूसरे प्रकार का था—वह पूज्य-बुद्धि-गर्भित होकर भक्ति के रूप में था । उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्मसमर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्मसमर्पण करने से नहीं । यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि शील वावा जी द्वारा निरूपित भक्ति के आलंबन के स्वरूप के—आश्रय-स्वरूप के सही—अंतर्गत है । भक्ति और शील की परस्पर स्थिति ठीक उसी प्रकार विव-प्रति-विव भाव से है जिस प्रकार आश्रय और आलंबन की । और आगे चलिए तो आश्रय और आलंबन की परस्पर स्थिति भी ठीक वही मिलती है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है । हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञानक्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है, वही भावक्षेत्र में आश्रय और आलंबन है । ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंबन भी एक हो जाते हैं । शील और भक्ति का अभेद देखने को इतना विवेचन बहुत है ।

दांपत्य प्रेम का दृश्य भी गोस्वामी जी ने बहुत ही सुंदर दिया है, पर बड़ी ही मर्यादा के साथ । नायिकाभेदवाले कवियों का सा या कृष्ण के रासलीला के रसिकों का सा लोकमर्यादा का उल्लंघन उसमें कहीं नहीं है । सीताराम के परम पुनीत प्रणय की जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिला में की, उसको परिपक्वता जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं के बीच पति पत्नी के संबंध की उच्चता और रमणीयता संघटित करती दिखाई देती है । अभिवेक के स्थान पर राम को वन जाने को आज्ञा मिलती है । आनंदोत्सव का सारा दृश्य कहण दृश्य में परिणत हो जाता है । राम वन जाने को तैयार हैं और वन के क्लेश त्राताते हुए सीता को घर रहने के लिये कहते हैं । इसपर सीता कहती है—

वन दुःख नाथ कहे बहुतेरे । भय विषाद परिताप घनेरे ॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना । सब मिलि होहि न कृपानिधाना ॥
कुस किसलय साथरो सुहाई । प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई ॥
कंद मूल फल अमिय अहारू । अवध सौधसत सरिस पहारू ॥
मोहि मग चलत न होइहिहारी । छिनु छिनु चरन सरोज निहारो ॥
पाँय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहीं वाउ मुदित मन माहीं ॥
वार वार मृदु मूरति जोही । लागिहि ताति वयारि न मोहीं ॥

दुःख की परिस्थिति में सुख की इस कल्पना के भीतर हम जीवनयात्रा में श्रांत पथिक के लिये प्रेम की शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेममार्ग निराला नहीं है, जीवनयात्रा के मार्ग से अलग होकर जानेवाला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें विखरे हुए काँटों पर फूल विछाता है। राम जानकी को नंगे पाँव चलते देख ग्रामवासी कहते हैं—

जो जगदीश इनहि वन दीन्हा । कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥

थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका मार्ग 'सुमनमय' ही है। प्रेम के प्रभाव से जंगल में भी मंगल था। सीता को तो सहस्रों अयोध्याओं का सुख वहाँ मिल रहा था—

नाह नेह नित वदत विलोकी । हरपित रहति दिवस जिमि कोकी ॥
सिय मन राम चरन अनुरागा । अवध सहस सम वन प्रिय लागा ॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगी । प्रिय परिवार कुरंग विहंगा ॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिवर । असन अमिय सम कंद मूल फर ॥

अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग के अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे? जीवन-यात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कंदमूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्यजीवन के अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है। प्रिय के प्रयत्नों से ऐसे ही स्वाभाविक सहयोग की अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—

आगि लागि घर जरिगा, बड़ सुख कीन ।
पिय के हाथ घइलवा, भरि भरि दीन ॥

दूसरा कारण इस सुख का था हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरंग विहंग' अपने परिवार के भीतर जान पड़ते थे। उस जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा जिसे एक स्थान पर लगाए हुए फूल पौधों को छोड़कर अन्य स्थान पर जाते हुए भी दुःख होता था।

सीता जी द्वारा शृंगार के संचारी भाव 'क्रीड़ा' की व्यंजना के लिये कैसा उपयुक्त अवसर चुना गया है! वन के मार्ग में ग्रामीण स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं। इसपर सीता—

तिन्हि विलोकि विलोकति धरनी । दुहुँ संकोच संकुचति वर वरनी ॥

'विलोकति धरनी' कितनी स्वाभाविक मुद्रा है! 'दुहुँ संकोच' द्वारा कवि ने सीता के हृदय की कामलता और अभिमानशून्यता भी कैसे ढंग से व्यंजित कर दी है। एक तो राम को खुले शब्दों में अपना पति कहने में संकोच; दूसरा संकोच यह समझकर कि यदि इन भोली भाली स्त्रियों को कोई उत्तर न दिया जायगा तो ये मन में दुखी होंगी और मुझे अभिमानिनी समझेंगी।

इसके आगे सीता जी में शृंगारी चेष्टाओं का विधान भी अत्यंत निपुणता और भावुकता के साथ गोस्वामी जी ने किया है—

बहुरि वदन विधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितै भौंह कर बाँकी ॥
खजन मंजु तिरिछे नैननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि ॥

यदि आम रास्ते पर राम के साथ वातचीत करने में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो कुलवधू की मर्यादा भंग होती, रूढ़ि का अनुसरण मात्र होता । पर वीच में उन स्त्रियों को डाल देने से एक परदा भी खड़ा हो गया और अधिक स्वाभाविकता भी आ गई । सीता में ये चेष्टाएँ अपने साथ राम के संबंध की भावना द्वारा उत्पन्न दिखाई पड़ती हैं । यदि रामसीता के परस्पर व्यवहार में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो 'संभोग शृंगार' का खुल-वर्णन हो जाता जो गोस्वामी जी ने कहीं नहीं किया है ।

अब प्रश्न यह है कि ये चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या विभावांतर्गत 'हाव' । हिंदी के लक्षणग्रंथों में 'हाव' प्रायः अनुभाव के अंतर्गत रखे मिलते हैं । पर यह ठीक नहीं है । 'अनुभाव' के अंतर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ आ सकती हैं । 'आश्रय' की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है । पर 'हावों' का संनिवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिये नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिये, अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिये होता है । जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है वह आलंबन होता है । अतः 'हाव' नामक चेष्टाएँ आलंबनगत ही मानी जायँगी और आलंबनगत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अंतर्गत ही ठहरता है ।

अब विचार करना चाहिए कि सीता जी की उक्त चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या 'हाव' । लक्षण के अनुसार 'संभोगेच्छाप्रकाशक भ्रू-नेत्रादि-विकार' ही 'हाव' कहलाते हैं । पर सीता जी के विकार इस प्रकार के नहीं हैं । वे विकार राम के साथ अपने संबंध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति प्रेम की व्यंजना करते हैं । इस प्रकार आश्रय की चेष्टाएँ होने के कारण वे विकार 'अनुभाव' ही होंगे ।

सीताहरण होने पर इस प्रेम को हम एक ऐसे मनोहर क्षेत्र का द्वार खोलते हुए पाते हैं जिनमें बल और पराक्रम अपनी चरमावस्था को पहुँचकर अनीति और अत्याचार का ध्वंस कर देता है । वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलनेवाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियों को बैठे बैठे रूलानेवाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिये छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहानेवाला वियोग नहीं है—वह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र करानेवाला, पृथ्वी का भार उतारनेवाला वियोग है । इस वियोग को गंभीरता के सामने मूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्तिपूर्ण होने से बालक्रीड़ा सा लगता है ।

हनुमान के प्रकट होने के पहले जानकी उद्विग्न होकर कह रही थीं—

पावकमय ससि स्रवत न आगी । मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥
सुनिय विनय मम विटप अशोका । सत्यनाम करु हरु मम शोका ॥
नूतन किसलय अनल समाना । देहि अगिनि जिनि करहि निदाना ॥

इतना कहते ही हनुमान का मुद्रिका गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर हाथ में लेना, यह सब तो गोस्वामी जी ने प्रसन्नराघव नाटक से लिया है। हनुमान को सामने पाकर सीता उसी मर्यादा के साथ अपने वियोगजनित दुःख की व्यंजना करती हैं, जिस मर्यादा के साथ माता पुत्र के सामने कर सकती है। वे पहले 'अनुज सहित' राम का (अकेले राम का नहीं) कुशल पूछती हैं; फिर कहती हैं—

कोमलचित्त कृपालु रघुराई । कपि, केहि हेतु धरी निटुराई ॥
सहज वानि सेवक सुखदायक । कवहुँक सुरति करत रघुनायक ॥
कवहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहि निरखि श्याम मृदुगाता ॥

प्रिय के कुशलमंगल के हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओं के वियोग का प्रधान लक्षण है। प्रिय सुख में है या दुःख में है, यह संशय विरह में दया या करुण भाव का हलका सा मेल कर देता है। भारत की कुलवधू का विरह आवारा आशिकों माशूकों का विरह नहीं है। वह जीवन के गांभीर्य को लिए हुए रहता है। यह वह विरह नहीं है, जिसमें विरही अपना ही जलना और मरना देखना है; प्रिय मरता है कि जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

पवित्र दांपत्य रति की कैसी मनोहर व्यंजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है, जिस समय ग्रामवनिताओं ने मार्ग में राम को दिखाकर उनसे पूछा था कि 'ये तुम्हारे कौन हैं ?'

कोटि मनोज लजावनहारे । सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे ॥
सुनि सनेहमय मंजुल वानी । सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी ॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सँकोच सँकुचत वर वरनी ॥
सकुचि सप्रेम वालमृगनयनी । बोली मधुर बचन पिकवयनी ॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लखन लघु देवर मोरे ॥
बहुरि वदन विधु अंचल ढाँकी । पिय तन चित्त भौह करि बाँकी ॥
खजन मंजु तिरीछे नैननि । निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि ॥

कुलवधू की इस अल्प व्यंजना में जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेमप्रलाप में कहाँ ?

शोक का चित्रण भी गोस्वामी जी ने अत्यंत हृदयद्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलसीवर्णित रामचरित में दो हैं—एक तो अयोध्या में राम-वन-गमन का प्रसंग और दूसरा लंका में लक्ष्मण को शक्ति लगने का। राम के वन जाने पर जो दुःख फैला, वह शोक ही माना जायगा; वह प्रिय का प्रवासजन्य दुःख मात्र नहीं है। अशोक के समय वनवास बड़े दुःख की बात है—

कैकयनंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपन कीन्ह ।

जेहि रघुनंदन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह ॥

अतः परिजनों और प्रजा का दुःख राम की दुःखदशा समझकर भी था, केवल राम का अलग होना देखकर नहीं—

राम चलत अति भएउ विषाद् । सुनि न जाइ पुर आरत नाद् ॥

यह विषाद (जो शोक का संचारी है) और यह आर्तनाद शोकसूचक है। प्रिय के दुःख या पीड़ा पर जो दुःख हो, वह शोक है; प्रिय के कुछ दिनों के लिये वियुक्त होने मात्र का जो दुःख हो, वह विरह है। अतः राम के इस दुःखमय प्रवास पर जो दुःख लोगों को हुआ, वह शोक और वियोग दोनों हैं।

‘तुलसी राम वियोग सोक बस समुभक्त नहिं समुभाए।’

में वियोग और शोकसूचक वाक्य यद्यपि मिले हैं, पर हम चाहें तो उन्हें अलग करके भी देख सकते हैं। शुद्ध वियोग—

जब जब भवन विलोकति सूनो।

तब तब विकल होति कौशल्या, दिन दिन प्रति दुख दूनो ॥

को अब प्रात कलेऊ मांगत, रूठि चलैगो माई ॥

स्याम तामरस नयन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई ?

शोक या करुणा की व्यंजना इस प्रकार के वाक्यों में समझिए—

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ ॥

ते बन बसहिं विपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस सहि छाची ॥

राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ ॥

ते अब फिरत विपिन पदचारी। कंद मूल फल फूल अहारी ॥

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुँच जाता है। उस समय की अयोध्या की दशा के वर्णन में पाठकों को करुणा की ऐसी धारा दिखलाई पड़ती है, जिसमें पुरवासियों के साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

लागति अबध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी ॥

घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी ॥

घर मसान, परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता ॥

बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलानीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥

बिधि कैकेयि किरातिनि कीन्हीं। जेहि दब दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥

सहि न सके रघुवर विरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी ॥

करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महाविपति किमि जाई बखानी ॥

सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरज हू कर धीरज भागा ॥

गोस्वामी जी द्वारा चित्रित राजकुल का यह शोक ऐसा शोक है जिसके भागी केवल पुरवासी ही नहीं, मनुष्य मात्र हो सकते हैं, क्योंकि यह ऐसे आलंबन के प्रति है जिसके थोड़े से दुःख को भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखनेवाले सब करुणार्द्र हो सकते हैं।

दूसरा करुण दृश्य लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप है। इस विलाप के भीतर शोक की व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक रीति से की गई है। उसके प्रवाह में एक क्षण के लिये नियम, व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती सी दिखाई देती है—

१. यद्यपि वनगमन के समय राम इतने बच्चे न थे, पर वात्सल्य दिखाने के लिये गोस्वामी जी ने कौशल्या के मुख से ऐसा ही कहलाया है।

जो जनतेउँ वन बंधु विछोहू । पिता वचन मनतेउँ नहि ओहू ॥

भावदशा का तात्पर्य न समझनेवाले, नीति के नाम पर पाखंड धारण करनेवाले, इसे चरित्रग्लानि समझेंगे या कहेंगे । पर ऐसे प्रिय बंधु का शोक, जिसने एक क्षण के लिये भी विपत्ति में साथ न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिये सब बातों का विचार छोड़ा देनेवाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखाई पड़ती जो भक्तों की आशा का आलंबन है ? यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है । नियमों से निराश होकर, 'कर्मवाद' की कठोरता से घबड़ाकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अंत में भक्तिमार्ग में जाकर उस परोक्ष 'हृदय' को उसने पाया । भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं है, वह क्षमा, दया, उदारता इत्यादि का अनंत समुद्र है । लोक में जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखाई देती है, वह उसी समुद्र का एक बिंदु है ।

'आत्मग्लानि' का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामी जी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कवि ने कहीं दिखाया हो । आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सात्विक अंतःकरण में ही हो सकता है, अतः भरत से बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है ? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसंग के साथ अपना संबंध लोक में दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से । भरत जी को ग्लानि थी दूसरे प्रकार की, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी । जिन राम का उनपर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्हें वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते आए, उनके विरोधी वे समझे जायें, यह दुःख उनके लिये असह्य था । इस दुःख के भार से हलके होने के लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर आत्मग्लानि को वे हृदय में न रख सके—

को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी । गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥

पितु मुरपूर, वन रघुवर केतू । मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥

धिग मोहि भएउँ वेनुवन आगी । दुसह दाह दुख दूषन भागी ॥

वे रह रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफाई दूँ, पर लोक की दृष्टि में निष्कलंक नहीं दिखाई पड़ सकता—

जो पै हौं मानु मते महँ हूँहौं ।

तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वँहौं ?

क्यों हौं आज होत सुचि सपथनि ? कौन मानिहै साँची ?

महिमा मृगी कौन मुकृती की खल वच विसिपन वाँची ?

गहि न जाति रसना काहू की, कहाँ जाहि जो सूँहँ ?

दीनबंधु कारुण्यसिंधु विनु, कौन हिये की बूँहँ ?

कैकेयी को सामने पाकर इस ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है । उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अबज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है—

(क) जो पै कुरुचि रही अति तोहीं । जनमत काहे न मारेसि मोहीं ॥

पेड़ काटि तैं पालव साँचा । मीन जियन हित बारि उलीचा ॥

जब तैं कुमति! कुमति जिअ ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥
 वर मांगत मन भई न पीरा । गरि न जीह, मुँह परेउ न कीरा ॥
 अस को जीव जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ॥
 भे अति अहित राम तेउ तोहीं । को तू अहसि ? सत्य कहु मोहीं ॥

(ख) ऐसे तैं क्यों कटु वचन कह्यो, री ?

‘राम जाहु कानन’ कठोर तेरे कैसे धौं हृदय रह्यो री ?
 दिनकर वंस, पिता दशरथ से राम लपन से भाई ।
 जननी ! तू जननी तो कहा कहाँ ? विधि केहि खोरि न लाई ।
 हाँ लहिहाँ सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो ।
 कुल कलंक मल मूल मनोरथ तव विनु कौन करैगो ?
 ऐहैं राम सुखी सब ह्वैहैं, ईस अजस मेरो हरिहैं ?
 तुलसीदास मोको बड़ो सोच, तू जनम कौन विधि भरिहैं ?

एक वार तो संसार की ओर देखकर भरत जी अग्रश छूटने से निराश होते हैं; पर फिर उन्हें आशा वैधती है और वे कैकेयी से कहते हैं कि ईश मेरा तो अग्रश हरेगा, मैं तो मुँह दिखाने लायक हो जाऊँगा; पर तू अपने दिन कैसे काटेगी ? वे समझते हैं कि राम के आते ही मेरा अग्रश दूर हो जायगा । उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने, पर सुशीलता की मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते ।

परिहरि राम सीय जग माहीं । कोउ न कहहि मोर मत नाहीं ॥

राम की सुशीलता पर भरत को इतना अविचल विश्वास है । वह शीलता धन्य है जिसपर इतना विश्वास टिक सके; और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे ! भरत की आशा का एकमात्र आधार यही विश्वास है । कौशल्या के सामने जिन वाक्यों द्वारा वे अपनी सफाई देते हैं, उनके एक एक शब्द से अंतःकरण की स्वच्छता भलकती है । उनकी शपथ उनकी अंतर्वेदना की व्यंजना है—

जे अघ मातु, पिता, सुत मारे । गाय गोठ महिसुर पुर जारे ॥
 जे अघ तिय बालक बध कीन्है । मीत महीपति, माहुर दीन्है ॥
 जे पातक उपपातक अहहीं । करम वचन मन भव कवि कहहीं ॥
 ते पातक मोहि होहु विधाता । जो एहु होइ मोर मत माता ॥

इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं । यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले ।

हास्यरस का एक अच्छा छिंटा नारदमोह के प्रसंग में मिलता है । नारद जी वंदर का मुँह लेकर स्वयंवर की सभा में एक राजकन्या को मोहित करने जा बैठे हैं—

काहु न लखा जो चरित विसेखा । सो सरूप नृपकन्या देखा ॥
 मकंठ वदन भयंकर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥
 जेहि दिसि बैठे नारद फूली । सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥
 पुनि पुनि मुनि उसकहि अकुलाहीं । देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥

गोस्वामी जी का यह हास भी मर्यादा के साथ है, 'स्मित हास' है, बड़े लोगों का हास है। उसपर भी उद्देश्यगर्भित है, निरा हास ही हास नहीं है। यह मोह और अहंकार छुड़ाने का एक साधन है। इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का सा कृत्रिम नहीं है।

हास के अतिरिक्त बालविनोद की सामग्री देखनी हो तो सुंदरकांड में एक लंबी पूंछ के बंदर को पूंछ में लुक वांधकर नाचते हुए और राक्षसों के लड़कों को ताली बजाकर कूदते हुए देखिए। थोड़ी देर वहीं ठहरने पर ऐसा भयानक और बीभत्स कांड देखने को मिलेगा, जो भुलाए न भुलेगा। कवितावली में लंकादहन का बड़ा ही विस्तृत और पूर्ण चित्रण है। देखिए, कैसा आवेगपूर्ण भय है—

(क) 'लागि, लागि आगि' भागि भागि चले जहाँ तहाँ;
 धीय को न माय, वाप पूत न सँभारहीं ॥
 छूटे वार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
 कहैं वारे बूढ़े 'वारि वारि' वार वारहीं ॥
 हय हिहिनात भागे जात घहरात गज,
 भारी भीर टेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं ॥
 नाम लै चिलात, विललात, अकुलात अति,
 तात, तात ! तौंसियत, भौंसियत भारहीं ॥

(ख) लपट कराल ज्वाल जाल माल दहूँ दिसि,
 धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे ॥
 पानी को ललात, विललात जरे गात जात,
 परे पाइमाल जात, भ्रात ! तू निबाहि रे ॥
 प्रिया ! तू पराहि, नाथ नाथ ! तू पराहि वाप,
 वाप ! तू पराहि, पूत, पूत ! तू पराहि रे ॥
 तुलसी विलोकि लोग व्याकुल विहाल कहैं,
 'लेहि दससीस अरव वीस चख चाहि रे' ॥

इसी लंकादहन के भीतर यह बीभत्स कांड सामने आता है—

हाट वाट हाटक पिघलि घी सो घनो,
 कनक कराही लंक तलफति ताय सों ॥
 नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
 पागि पागि ढेरी कीन्ही भली भाँति भाय सों ॥

पिशाचिनियों और डाकिनियों की बीभत्स क्रीड़ा का जो कवि प्रथानुसार वर्णन है, वह तो है ही, जैसे—

ओभरी की भोरी काँधे, आँतिन की सेल्ही वाँधे,
 मूड़ के कमंडलु, खपर किए कोरि कै ॥
 जोगिनी भुटुंग भुंड भुंड बनी तापसी सी,
 तीर तीर बैठी सो समर सरि खोरि कै ॥

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
 प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै ।
 तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
 हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै ॥

कवायद की पूरी पावंदी के साथ बहुत थोड़े में रौद्ररस का उदाहरण देखना हो तो यह देखिए—

मापे लपन कुटिल भई भीहैं । रदपट फरकत नयन रिसाँहैं ॥
 रघुवंसिन महँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहै न कोई ॥

इसमें अनुभाव भी है, अमर्ष संचारी भी है । संभव है, कुछ लोगों को 'रिसाँहैं' शब्द के कारण 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष दिखाई पड़े; पर अनुभाव आदि द्वारा पूर्ण व्यंजना हो जाने पर विशेषण रूप में 'भाव' का नाम आ जाना दोष नहीं कहा जा सकता ।

युद्धवीर के उदाहरणों से तो सारा लंकाकांड भरा पड़ा है । 'उत्साह' नामक भाव की भी व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष को पहुँची हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बड़ा ही उग्र और प्रचंड है । वीररस का वर्णनकौशल उन्होंने तीन शैलियों के भीतर दिखाया है— प्राचीन राजपूतकाल के चारणों की छप्पयवाली ओजस्विनी शैली के भीतर; इधर के फुट-करिए कवियों की दंडकवाली शैली के भीतर, और अपनी निज की गीतिकावली शैली के भीतर । नीचे तीनों का क्रमशः एक एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ बिटप भूधर उखारि परसेन वरख्वत ।
 कतहुँ वाजि सो वाजि, मदि गजराज करख्वत ॥
 चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर वज्जत ।
 विकट कटक विहरत वोर वारिद जिमि गज्जत ॥
 लंगूर लपेटत पटक भट 'जयति राम, जय' उच्चरत ।
 तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध, क्रुद्ध, कौतुक करत ॥

(२) दक्कि दबोरे एक, वारिध में बोरे एक,
 मगन मही में एक गगन उड़ात हैं ।
 पकरि पछारे, कर चरन उखारे, एक,
 चीर फारि डारे, इक मीजि मारे लात हैं ॥
 तुलसी लखत राम रावन, विदुध विधि,
 चक्रपानि चंडीपति चंडिका मिहात हैं ।
 बड़े बड़े बानइत वीर बलवान बड़े,
 जातुधान जूथप निपाते वातजात हैं ॥

(३) भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे ।
 कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे ।
 मंदोदरी उर कंप कंपित कमठ भू भूधर त्रसे ।
 चिक्करहि दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे ॥

धनुष चढ़ाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह और धनुर्भंग की प्रचंडता का वर्णन भी अत्यंत वीरोत्साहपूर्ण है । जनक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

सुनहु भानुकुल कमल भानु ! जी अब अनुसासन पावौं ।
का वापुरी पिनाक ? मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं ॥
देखौ निज किकर को कौतुक, क्यों कोदंड चढ़ावौं ।
लै धावौं, भंजौं मृनाल ज्यों तौ प्रभु अनुज कहावौं ॥

धनुष टूटने पर—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पट्वै समुद्र सर ।
व्याल वधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर ॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकठ मुख भर ।
सुर विमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर ॥
चौके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जवहि राम शिवधनु दल्यो ।

धनुभंग के इस वर्णन में प्रश्न यह उठता है कि इसमें प्रदर्शित उत्साह का आलंब क्या है। प्रचलित साहित्यग्रंथों में देखिए तो युद्धवीर का आलंबन विजेतव्य ही मिलेगा। यह विजेतव्य शत्रु वा प्रतिपक्षी ही हुआ करता है। अतः यहाँ विजेतव्य धनुष ही हो सकता है। पर पृथ्वी पर पड़ा हुआ जड़ धनुष मनुष्य के हृदय में उठाने या तोड़ने का उत्साह किस तरह जाग्रत करेगा, यह समझते नहीं बनता है। वह तो पड़ा पड़ा ललकार नहीं रहा है। यदि किसी मनुष्य में इतना साहस और बल है कि वह बड़ी बड़ी चट्टानों को उठा सकता है, तो पहाड़ पर जाकर उसकी क्या दशा होगी? अतः हमारी समझ में उत्साह का आलंबन कोई विकट या दुष्कर्म 'कर्म' ही होता है।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की व्याकुलता देख कार्यतत्परता की मूर्ति हनुमान् कहते हैं—

जौं हीं अब अनुसासन पावौं ।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं ।
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं ।
भेदि भुवन करि भानु वाहिरो तुरत राहु दै तावौं ।
विवुधबेद बरवस आनीं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं ।
पटकों मीच नीच मूपक ज्यों सबहि को पायु बढ़ावौं ।

हनुमान् के इस 'वीरोत्साह' का आलंबन क्या है? क्या चंद्रमा, अश्विनीकुमार इत्यादि? खैर, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायगा, यहाँ इतना ही निवेदन करके रसज्ञों से क्षमा चाहते हैं।

अब अद्भुत रस का एक उदाहरण देकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है। हनुमान् जी पहाड़ हाथ में लिए आकाशमार्ग से अपूर्व वेग के साथ उड़े जा रहे हैं—

लौन्हीं उखारि पहार त्रिसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो ।
मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो ।
तीखी तुरा तुलसी कहतौ पै हिये उपमा को समाउ न आयो ।
मानौं प्रतच्छ परध्रत की नभ लोक लसी कपि यों धुकि धायो ॥

इस पद के भीतर 'मारुत को, मन को, खगराज को' इस वाक्यांश में कुछ 'दुष्कर्मत्व' दोष प्रतीत होता है; मन को सबके पीछे होना चाहिए, मन का वेग जब कह चुके, तब खगराज का वेग उसके सामने कुछ नहीं है। पर समग्र वर्णन से जो चित्र सामने खड़ा होता है, उसके अद्भुत होने में कोई संदेह नहीं। गगनमंडल के बीच पहाड़ की एक लीक सी बंध जाना कोई साधारण व्यापार नहीं है। इस अद्भुतता की योजना भी एक स्वभाव-सिद्ध व्यापार के आधार पर हुई है और प्रकृति का निरीक्षण सूचित करती है। यह सूचित करती है कि अत्यंत वेग से गमन करती हुई वस्तु की एक लकीर सी बन जाया करती है, इस बात पर कवि की दृष्टि गई है। जिसकी दृष्टि ऐसी ऐसी बातों पर न जाती हो, वह कवि कैसा? प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिये कवि की आंखें खुली रहनी चाहिए, उसका मृदुसंगीत सुनने के लिये उसके कान खुले रहने चाहिए, और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिये उसका हृदय खुला रहना चाहिए। अद्भुत रस के इस आलंवन द्वारा गोस्वामी-जी की वह स्वाभाविक विश्व-व्यापार-ग्राहिणी सहृदयता लक्षित होती है, जो हिंदी के और किसी कवि में नहीं। इस स्वभावसिद्ध अद्भुत व्यापार के सामने 'कमल पर कदली, कदली पर कुंड, शंख पर चंद्रमा आदि कवि-प्रौढ़ाक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज हैं? लड़कों के खेल हैं। बालकों या बालरुचिवालों का मनोरंजन उनसे हांता ही तो हो सकता है।

गोस्वामी जी ने अपनी इस परिष्कृत और गंभीर रुचि का परिचय अलंकारों की योजना में बराबर दिया है। लंकादहन प्रसंग में जहाँ हनुमान जी अपनी जलती हुई लंबी पूंछ इधर से उधर घुमाते हैं, वहाँ भी अपनी 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' को वे इसी स्वभावसिद्ध व्यापार पर टिकाते हैं—

बालघी विसाल बिकराल ज्वाल जाल मानो,
लंक लीलिवे को काल रसना पसारी है ॥
कंधों व्योमवीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि सी उधारी है ॥

ध्यान से देखिए तो कई एक व्यापार, जो देखने में केवल अलौकिकत्वविधायक प्रतीत होते हैं, हेतुत्प्रेक्षा के व्यंग्य से अपना प्रकृत स्वरूप खोल देंगे। पथिक वेश में राम-लक्ष्मण वन के मार्ग में चले जा रहे हैं (क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है, इसी से बार बार सामने आया करता है)। गोस्वामी जी कहते हैं—

जँह जँह जाहि देव रघुराया । तँह तँह मेघ करहि नभ छाया ॥

जिस समय मेघखंड आकाश में बिखरे रहते हैं, उस समय पथिक के मार्ग में कभी घूप पड़ती है, कभी छाया। इस छाया पड़ने को देखकर किसी अवसर पर यदि कवि किसी साधारण पुरुष को भी कह दे कि 'मेघ भी आपके ऊपर छाया करते चलते हैं', तो उसका यह कहना अस्वाभाविक न लगेगा। इस कथन द्वारा जिस प्रताप आदि की व्यंजना इष्ट होगी वह उत्प्रेक्षा का हेतु हो जाएगा। प्राचीन कवियों में इस प्रकार की सुंदर स्वाभाविक उक्तियाँ अकसर मिलती हैं, जिनमें से किसी किसी को लेकर उनपर एक साथ कई प्रौढ़ा-क्तियाँ लादकर पिछले खेव के कवियों ने एक भद्दी इमारत खड़ी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमें अतिशयोक्ति रह गई है; जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी

कहिए या उन पुरानी उक्तियों की कहिए) लेकर भागी है। उदाहरण के लिये अभिज्ञान शाकुंतल में भीरा शकुंतला का पीछा किए हुए है और बार बार उसके मुँह की ओर जाता है—

‘सलिल सेसंभमगदो, गोमालिग्रं उज्जिभ्र वग्रणं मे महृग्रो अहिवट्टइ’।

हमारे लाला भिखारीदास जी ने इस उक्ति को पकड़ा और उसके ऊपर यह भारी भरकम डाँचा खड़ा कर दिया—

आनन है अरविद न फूले, अलीगन ! भूले, कहाँ मँडरात हौ ?
कीर कहा तोहिं वाई भई भ्रम विव के ओठन को ललचात हौ ?
दाम जू व्याली न, वेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ ?
बोलत वाल न वाजत वीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ ?

ऐसे संकट में पड़ी हुई नायिका शायद ही कहीं दिखाई पड़े। भ्रमरवाधा तक तो कोई चिंता की बात नहीं। पर उसके ऊपर यह शुकवाधा, मयूरवाधा और मृगवाधा देख तो हाथ पर हाथ रखकर बैठे ही रहना पड़ेगा।

बहुन लोगों ने देखा होगा कि भीरे आदमी के पीछे अकसर लग जाते हैं; कान और मुँह के पास मँडराया करते हैं और हटाने से जल्दी हटते नहीं। इसी बात पर स्त्रियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि जब कोई परदेश में होता है, तब उसका सँदेसा कहने के लिये भीरे आकर कान के पास मँडराया करते हैं। अतः इस प्रकार की पुरानी उक्तियों में जो सौंदर्य है, वह हमें अतिशयोक्ति में न दिखाई देकर स्वभावसिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य हेतुत्प्रेक्षा में दिखाई पड़ता है; जैसे भीरा जो बार बार मुँह के पास जाता है, यह मानो मुख को कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे संचारी भावों की स्वतंत्र व्यंजना भी गोस्वामी जी ने जिस मार्मिकता से की है उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे ऐसे भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं, फिर ध्यान जाता कैसे? सीता के संबंध में राम लोकध्वनि चरों के द्वारा सुनते हैं—

चरचा चरनि सो चरची जानमनि रघुराइ ।
दूतमुख मुनि लोकधुनि घर घरनि वूभी आइ ॥

मर्यादास्तंभ राम लोकमत पर सीता को वन में भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आँखों भरे लौट रहे हैं। उस अवसर पर—

दीनबंधु दयाल देवर देखि अति अकुलानि ।
कहत वचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन रानि ॥

ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गंभीरहृदय देवी का यह ‘उदासीन भाव’ प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौं वनि आपुही कीवी विनय समुभि सुधारि ।
जौ लौं हौं सिखि लउं वन ऋपिरीति वसि दिन चारि ॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि ।
बहुरि तिहि विधि आइ कहिहै माधु कोउ हितकारि ॥

लषन लाल कृपाल ! निपटहि डारिवी न विसारि ।
पालवी सब तापसनि ज्यों राजधर्म बिचारि ॥
सुनत सीतावचन मोचत सकल लोचन वारि ।
वालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि ॥

काव्य के भावविधान में जिस 'उदासीनता' का संनिवेश होगा वह खेदव्यंजक ही होगी—यथार्थ में 'उदासीनता' न होगी । उसे विषाद, क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिए । कैकेयी को समझाते समय मंथरा के मुख से भी इस उदासीनता की व्यंजना गोस्वामी जी ने बड़ी मामिकता से कराई है । राम के अभिषेक पर दुःख प्रकट करने के कारण जब मंथरा को कैकेयी बुरा भला कहती है; तब वह कहती है—

हमहुँ कहव अरु ठकुर सोहाती । नहिँ न मौन रहव दिनराती ॥
कोउ नृप होउ हमहिँ का हानी । चेरि छाँड़ि अरु होव कि रानी ॥

हिंदी कवियों में तुलसी ऐसे भानुक के सिवा इस गूढ़ भाव तक और किसकी पहुँच हो सकती है ? और कौन ऐसे उपयुक्त पात्र में और ऐसे उपयुक्त अवसर पर इसका विधान कर सकता है ? इस 'उदासीनता' के भाव का आविष्कार उन्हीं का काम था । सूरदास ने इसका कुछ आभास मात्र यशोदा के उस संदेसे में दिया है जो उन्होंने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर देवकी के पास भेजा था—

सँदेसो देवकी सों कहियो ।

हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो ॥

'आश्चर्य' को लेकर कविजन 'अद्भुतरस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहल-वर्धक बातें हुआ करती हैं । पर इस आश्चर्य से मिलता जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्य के संचारी के रूप में रख सकते हैं । पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने दोनों (बंडर और सरप्राइज) में भेद किया है । आश्चर्य किसी विलक्षण बात पर होता है—ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती । 'चकपकाहट' किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो, और जो एकाएक हो जाय । जैसे, किसी दूर देश में रहनेवाले मित्र को सहसा अपने सामने देखकर हम 'चकपका' उठते हैं । राम का सेतु बाँधना सुन रावण चकपकाकर कहता है—

बाँधे बननिधि ? नीरनिधि ? जलधि ? सिंधु ? वारीस ?

सत्य, तोयनिधि ? कंपती ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसी का मरना सुनकर चकपकाकर पूछना—'अरे कौन ? रामप्रसाद के बाप ? माताप्रसाद के लड़के ? शिवप्रसाद के भाई ? अमुक स्टेट के मैनेजर ?' इस भाव का प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामी जी सब भावों को अपने अंतःकरण में देखनेवाले थे, केवल लक्षणग्रंथों में देखकर उनका संनिवेश करनेवाले नहीं ।

दूसरों का उपहास करते तो आपने बहुत लोगों को देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्य की उस अवस्था पर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना

उपहास आप करता है ? गोस्वामी जी ने उसपर भी ध्यान दिया है; उनकी अंतर्दृष्टि के सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोने के हिरन के पीछे अपनी सोने की सीता को खोकर राम वन वन विलाप करते फिरते हैं; मृग उन्हें देखकर भागते हैं, और फिर, जैसा कि उनका स्वभाव होता है, थोड़ी दूर पर जाकर खड़े हो जाते हैं। इस पर राम कहते हैं—

हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहि तुम्ह कहैं भय नाहीं ॥
तुम आनंद करहु मृगजाए। कचनमृग खोजन ये आए ॥
कैसी क्षोभपूर्ण आत्मनिंदा है !

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। कवि ने मृगों के ही भय का क्यों नाम लिया ? मृगियों को भय क्यों नहीं था ? बात यह है कि आखेट की यह मर्यादा चली आती है कि मादा के ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलनेवालों में यह प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामी जी का लोक-व्यवहार-परिचय प्रकट होता है।

देखिए, 'श्रम' की व्यंजना किस कोमलता के साथ गोस्वामी जी करते हैं। सीता रामलक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चली हैं—

- (१) पुर तें निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दए मग में डग द्वै ।
भलकि भरि भाल कनी जल की, पुट सूँटि गए मधुराधर वै ॥
फिर वृभक्ति हैं 'चलनो अत्र केतिक, पर्नः कः करिहो कित ह्वै ॥
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥
- (२) जल को गए लखन हैं लरिका, परिखौं पिय ! छाँह घरीक द्वै ठाढ़े ॥
पौँछि पसेउ वयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभरि डाढ़े ॥
तुलसी रघुवीर प्रिया स्रम जानिकै, वैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े ॥
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु वारि बिलोचन बाढ़े ॥

कुलवधू के 'श्रम' की यह व्यंजना कैसी मनोहर है ! यह 'श्रम' स्वतंत्र है, किसी और भाव का संचारी होकर नहीं आया है।

गोस्वामी जी को मनुष्य की अंतःप्रकृति की जितनी परख थी उतनी हिंदी के और किसी कवि को नहीं। कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कैसे भाव उठते हैं; इसकी वे बहुत सटीक कल्पना करते थे। राम के अयोध्या लौटने पर जब सुग्रीव और विभीषण ने राम और भरत का मिलना देखा तब उनके चित्त में क्या आया होगा, यह देखिए—

सधन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यों फँट ।
त्यौं सुग्रीव विभीषणाहि भई भरत की भेंट ॥

रास्ते भर तो वे बहुत प्रसन्न आए होंगे और राम के साथ रहने के कारण अपने को गौरवशाली—शायद साधु और सज्जन भी—समझते रहे होंगे। पर यह महत्व उनका निज का अर्जित नहीं था, केवल राम की कृपा से हुआ था। वे जो उसे अपना अर्जित समझते आ रहे थे यह उनका भ्रम था। उनका यह भ्रम राम और भरत का मिलना देखकर दूर हो गया। वे ग्लानि से गड़ गए। उनके मन में आया कि एक भाई भरत हैं और एक हम हैं जिन्होंने अपने भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार किया।

बस, दो बातें और कहनी हैं। कवि लोग अर्थ और वर्णविन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्दशोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापारशोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो (१) चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात् उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक-संबंध होता है और वह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है; और कहीं (३) चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है; जैसे, अन्याक्ति में। गोस्वामी जी ने दोनों प्रकार के चुनाव में अपनी स्वाभाविक सहृदयता दिखाई है।

(१) प्रथम पद्धति का अवलंबन ऐसी स्थिति को अंकित करने में होता है जिसके अंतर्गत बहुत से व्यापार हो सकते हैं और सब व्यापारों का वाच्य एक सामान्य शब्द हुआ करता है, जैसे अत्याचार, दैन्य, दुःख, सुख इत्यादि। अत्याचार शब्द के अंतर्गत डाँटने डपटने से लेकर मारना, पीटना, जलाना, स्त्री वालकों की हत्या करना, न जाने कितने व्यापार समझे जाते हैं। इसी प्रकार दीन दशा के भीतर खाने पहनने की कमी से लेकर द्वार द्वार फिरना, दाँत निकालकर माँगना, किसी के दरवाजे पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना, ये सब गोचर दृश्य आते हैं। इन दृश्यों में जो सबसे अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सामने रखकर, उसी को सबका उपलक्षण बनाकर, स्थिति को हृदयंगम करा देता है। गोस्वामी जी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान स्थान पर इसी पद्धति से किया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

कहा न कियो, कहाँ न गयो; सीस काहि न नायो ?
हा हा करि दीनता कही द्वार द्वार, बार बार परी न छार मुँह बायो ।
महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि खोलि खलन आगे खिनु पेट खलायो ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसीदास जी सचमुच द्वार द्वार पेट खलाते और डाँट फटकार सुनते फिरा करते थे।

कहीं राजा राम के द्वार पर खड़े अपनी दीनता का चित्र आप देखते हैं—

राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो ?
राम सो खरो है कौन मोसों, कौन खोटो ?

सारी विनयपत्रिका का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई। दैन्य भाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामी जी में पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नहीं। इस भावरहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण पद्धति को न समझनेवाले ऊपर के पदों को देख यदि कहें कि तुलसीदास जी बड़े भारी मंगन थे, हटाने से जल्दी हटते नहीं थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे, तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है। खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतंत्र आलोचना' का ऐसा स्थल और भद्रा अर्थ समझनेवाले भी हमारे बीच वर्तमान हैं। एक स्थान पर गोस्वामी जी कहते हैं—

त्रि० ७ (२,१००-७३)

खीभिन्ने लायक करतव कोटि कोटि कटु,
रीभिन्ने लायक तुलसी की निलजई ।

इसपर यदि कोई कह दे कि तुलसीदास जी बड़े भारी बेहया थे, तो उसकी क्या दवा है ?

तुलसीदास जी को जब स्वामी के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता की इस प्रकार प्रतीति हो जाती है कि 'जानत जहान मन मेरे हू गुमान बड़ो, मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहो,' तब प्रेमाधिक्य से वे कुछ मुँहलगे हो जाते हैं और कभी कभी ऐसी बातें भी कह देते हैं—

हैं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेतै ।

अब तुलसी पूतरो वाँधिहै सहि न जात मोपै परिहास एतै ॥

पर ऐसी गुस्ताखी कभी नहीं करते कि 'आपने करम भवनिधि पार करौं जो तो हम करतार, करतार तुम काहे के ?'

देखिए, संसार की अशांति का चित्र कैसा मर्मस्पर्शी और प्राकृतिक जीवन-व्यापार उपलक्षण के रूप में चुनकर वे अंकित करते हैं—

डासत ही गई वीति निसा सब कवहुँ न नाथ ! नीद भरि सोयो ।

(२) प्रस्तुत व्यापार के स्थान पर उसी के सदृश अप्रस्तुत व्यापार चुनने में भी गोस्वामी जी ने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक दृश्यों की परख का पूर्ण परिचय दिया है। प्रेमभाव का उत्कर्ष दिखाने के लिये उन्होंने चाक्षक और मीन को पकड़ा है। दोहा-वली के भीतर चातक की अन्योक्तियाँ प्रेमी भक्तों के हृदय का सर्वस्व हैं। यही चातकता और मीनता वे जीवन-भर चाहते रहे—करुणानिधान वरदान तुलसी चहत सीतापति भक्ति सुरसरिनीर मीनता ।' अन्योक्ति आदि के लिये भी वे तत्काल हृदय में चुभनेवाली दृश्य लाकर खड़ा कर देते हैं। इससे प्रस्तुत विषय के संबंध में जो भाव उत्पन्न करना इष्ट होता है, वह भाव थोड़ी देर के लिये अवश्य उत्पन्न होता है। प्रासादों में सुख से रहनेवाली सीता वन में कैसे रह सकेंगी—

नव रसाल बन विहरन सीला । सोह कि कोकिल विपिन करीला ॥

शीलनिरूपण और चरित्रचित्रण—रससंचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शीलनिरूपण और पात्र का चरित्रचित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि में आने पर फुटकरिए कवि पीछे हट जाते हैं, केवल प्रबंधकुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिंदी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता। चारणकाल के चंद आदि कवियों ने भी प्रबंधरचना की है, पर उसमें चरित्रचित्रण को वैसा स्थान नहीं दिया गया है, वीरोल्लास ही प्रधान है। जायसी आदि मुसलमान कवियों की प्रबंधधारा केवल प्रेमपथ का निदर्शन करती गई है। दोनों प्रकार के आख्यानों में मनोविकारों के इतने भिन्न भिन्न प्रकृतिस्थ स्वरूप नहीं दिखाई पड़ते जिन्हें हम किसी व्यक्ति या समुदायविशेष का लक्षण कह सकें।

रससंचार मात्र के लिये किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी होती है। पर किसी पात्र में उसे शीलरूप में प्रतिष्ठित करने के लिये कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ और रावण कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामी जी ने, कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर, प्रत्यक्ष की है।

पहले राम को लीजिए और इस बात का ध्यान रखिए कि प्रधान पात्र होने के कारण जितनी भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उनका जीवन दिखाया गया है, और किसी पात्र का नहीं। भिन्न भिन्न मनोविकारों को उभारनेवाले जितने अधिक अवसर उनके सामने आए हैं उतने और किसी पात्र के सामने नहीं। लक्ष्मण भी प्रत्येक परिस्थिति में उनके साथ रहे, इससे उनके संबंध में भी यही कहा जा सकता है। सारांश यह कि राम लक्ष्मण के चरित्रों का चित्रण आख्यान के भीतर सबसे अधिक व्यापक होने के कारण सबसे अधिक पूर्ण है। भरत का चरित्र जितना अंकित है, उतना सबसे उज्वल, सबसे निर्मल और सबसे निर्दोष है। पर साथ ही यह भी है कि वह उतना अधिक अंकित नहीं है। राम से भी अधिक जो उत्कर्ष उनमें दिखलाई पड़ता है वह बहुत कुछ चित्रण की अपूर्णता के कारण—उतनी अधिक परिस्थितियों में उनके न दिखाए जाने के कारण जितनी अधिक परिस्थितियों में राम लक्ष्मण का चरित्र दिखाया गया है। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जिस परिस्थिति में भरत दिखाए गए हैं, उनसे बढ़कर शील की कसौटी हो ही नहीं सकती।

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े बड़े दुःसाध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर रहकर अस्त्रशिक्षा प्राप्त की तथा विधनकारी विकट राक्षसों पर पहले पहल अपना बल आजमाया, वह उस उल्लासपूर्ण साहस का सूचक है जिसे 'उत्साह' कहते हैं। छोटी अवस्था में ही ऐसे विकट प्रयास के लिये जिनकी धड़क खुलती हमने देखी, उन्हीं को पीछे चौदह वर्ष वन में रहकर अनेक कष्टों का सामना करते हुए, जगत् को क्षुब्ध करनेवाले कुंभकर्ण और रावण ऐसे राक्षसों को मारते हुए हम देखते हैं। इस प्रकार जिन परिस्थितियों के बीच वीरजीवन का विकास होता है, उनकी परंपरा का निर्वाह हम त्रम से रामचरित में देखते हैं। राम और लक्ष्मण, ये दो अद्वितीय वीर हम उस समय पृथ्वी पर पाते हैं। वीरता की दृष्टि से हम कोई भेद दोनों पात्रों में नहीं कर सकते। पर सीता के स्वयंवर में दोनों भाइयों के स्वभाव में जो पार्थक्य दिखलाई पड़ा उसका निर्वाह हम अंत तक पाते हैं। जनक के परिनापवचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता हम लक्ष्मण में देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता और गंभीरता हम परशुराम के साथ वातचीत करने में देखते हैं, वह बराबर आगे आनेवाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर तब हम कहते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गंभीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

धीर, गंभीर और सुशील अंतःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता। सारे अवधवासियों को लेकर भरत को चित्रकूट की ओर आते देख लक्ष्मण कहते हैं—

कुटिल कुबंधु कुश्रवसर ताकी। जानि राम वनवास एकाकी ॥
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू। आए करइ अकंटक राजू ॥

और तुरंत इस अनुमान पर उनकी तयारी चढ़ जाती है—

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउं खेता ॥

पर राम के मन में भरत के प्रति ऐसा संदेह होता ही नहीं है। अपनी सुशीलता के बल से उन्हें उनकी सुशीलता पर पूरा विश्वास है। वे तुरंत समझते हैं—

सुनहुँ लपन भल भरत सरीसा। विधि प्रपंच महुँ सुना न दीसा ॥
भरतहि होइ न राजमद, विधि हरि हर पद पाइ ॥
कवहुँ कि काँजी सीकरनि, छीरसिंधु विनसाइ ॥

मुमंत जब रामलक्ष्मण को त्रिदा कर अयोध्या लौटने लगते हैं, तब रामचंद्र जी अत्यंत प्रेमभरा संदेशा पिता से कहने को कहते हैं, जिसमें कहीं से खिन्नता या उदासीनता का लेश नहीं है। वे सारथी को बहुत तरह से समझाकर कहते हैं—

सव विधि सोइ करतव्य तुम्हारे। दुःख न पव पितु सोच हमारे ॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिता ने स्त्री के कहने में आकर वनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा? पिता के व्यवहार की कठोरता के सामने लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्यपालन और परवशता की ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत न थी कि वे इतनी दूर तक सोचने जाते। पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर राम ने उन्हें रोककर और सारथी से बहुत विनती की कि लक्ष्मण की ये बातें पिता से न कहना—

पुनि कछु लपन कही कटु बानी। प्रभु वरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥
सकुचि राम निज सपथ दिवाई। लपन सँदेसु कहिय जनि जाई ॥

यह 'सकुचि' शब्द कितना भावगर्भित है। यह कवि की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। वह समाजवद्ध प्राणी है, उसे अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता, अपने कुटुंबी, इष्ट मित्र या साथी के भेदे आचरण पर भी होता है। पुत्र की करतूत सुनकर पिता का सिर नीचा होता है, भाई की करतूत सुनकर भाई का। इस बात का अनुभव तो हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसी से बातचीत करते समय भेद या अश्लील शब्दों का प्रयोग करता है, तो हमें लज्जा मालूम होती है। यह राम की सुशीलता और लोकमर्यादा का भाव व्यंजित करता है। मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र ऐसे ही कवि के हाथ में पड़ने योग्य था।

मुमंत ने अयोध्या लौटकर राजा से लक्ष्मण की कही हुई बातें तो न कहीं, पर इस घटना का उल्लेख बिना किए उनसे न रहा गया। क्यों? क्या लक्ष्मण से उनसे कुछ शत्रुता थी? नहीं। राम के शील का जो अद्भुत उत्कर्ष उन्होंने देखा, उसे वह हृदय में

न रख सके। सुशीलता के मनोहर दृश्य का प्रभाव मानव अंतःकरण पर ऐसा ही पड़ता है। सुमंत को राम की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का दोष अपने ऊपर लेना कबूल हुआ; पर उस शीलसौंदर्य की भलक अपने ही तक वह न रख सका, दशरथ को भी उसे उन्होंने दिखाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अंतिम भलक ने राजा को और भी उस मृत्यु के पास तक पहुँचा दिया होगा जो आगे चलकर दिखाई गई है। इसे कहते हैं घटना का सूक्ष्म क्रमविन्यास।

राम और लक्ष्मण के स्वभावभेद का वस एक और चित्र दिखा देना काफी होगा। समुद्र के किनारे खड़े होकर समुद्र से विनय करते करते राम को तीन दिन जीत गए। तब जाकर राम को क्रोध आया और 'भय विनु होइ न प्रीति' वाली नीति की ओर ज़नका ध्यान गया। वे बोले—

लछमन वान सरासन आनू। सोखउँ वारिधि विसिख कृसानू ॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा ॥

जिसके बारा खींचते ही 'उठी उदधि उर अंतर ज्वाला', उसने पहले तीन दिनों तक हर प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ। विनयवाली नीति उन्हें पसंद न थी। एक बार दो बार कह देना ही वे काफी समझते थे।

वाष्मीकि ने राम के वनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण के महाक्रोध का वर्णन किया है। पर न जाने क्यों वहाँ तुलसीदास जी इसे बचा गए हैं।

चित्रकूट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बराबर इसलिये मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में इस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और उसकी ग्लानि दूर हो। वे बार बार उसके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है। अपने साथ बुराई करनेवाले के हृदय को शांत और शीतल करने की चिंता राम के सिवा और किसको हो सकती है? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शीलप्रदर्शन उस समय हुआ, जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत हो गया था कि शील का संस्कार उसपर सब दिन के लिये जम सकता था। गोस्वामी जी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

कैकेयो जी लौं जियत रही।

तौ लौं बात मातु सो मुँह भरि, भरत न भूलि कही ॥

मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही ॥

इतने पर भी कहीं गँस रह सकती है ?

गार्हस्थ्य जीवन के दांपत्य भाव के भीतर सबसे मनोहर वस्तु है उसकी 'गक-भार्या' की मर्यादा। इसके कारण यहाँ से वहाँ तक जिस गौरवपूर्ण मार्ग का प्रसार दिखाई देता है, वह अनिर्वचनीय है। इसकी उपयोगिता का पक्ष दशरथ के चरित्र पर विचार करते समय दिखाया जायगा।

भक्तों को सबसे अधिक वश में करनेवाला राम का गुण है शरणागत की रक्षा।

अत्यंत प्राचीन काल से ही शरणागत की रक्षा करना भारतवर्ष में बड़ा भारी धर्म माना जाता है। इस विषय में भारत की प्रसिद्धि सारे सभ्य जगत् में थी। सिकंदर से हारकर पारस का सम्राट् दारा जत्र भाग रहा था, तब उसके तीन साथी सरदारों ने विश्वासघात करके उसे मार डाला। उनमें से एक शकस्थान (सीस्तान) का क्षत्रप वरजयंत था। जब सिकंदर ने दंड देने के लिये इन तीनों विश्वासघातकों का पीछा किया, तब वरजवंश ने भारतवासियों के यहाँ आकर शरण ली और बच गया। प्राचीन यहूदियों के एक जत्थे का गांधार और दक्षिण में शरण पाना प्रसिद्ध है। इस्लाम की तलवार के सामने कुछ प्राचीन पारसी जब अपने आर्यधर्म की रक्षा के लिये भागे तब भारतवर्ष ही की ओर उनका ध्यान गया, क्योंकि शरणागत की रक्षा यहाँ प्राण देकर भी की जाती थी। अपनी हानि के भय से शरणागत का त्याग बड़ा भारी पाप माना जाता है—

सरनागत कहँ जे तजहि, निज अनहित अनुमानि ।

ते नर पाँवर पापमय, तिनिहि विलोकत हानि ॥

शरणागत की रक्षा की चिंता रामचंद्र के हृदय से दारुण शोक के समय में भी दूर न हुई। सामने पड़े हुए लक्ष्मण को देखकर वे विलाप कर रहे हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको ।

विपति बंटावन बंधु बाहु विनु करौं भरोसो काको !

सुनि सुग्रीव ! साँचहू मोसन फेरयो बदन विधाता ।

ऐसे समय समर संकट हौं तज्यो लपन सो आता ॥

गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती ।

हैंहै कहा विभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥

राम के चरित्र की इस उज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है वालि को छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसीदास जी दोनों ने इस धब्बे पर सफेद रंग पोतने का प्रयत्न किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही संपूर्ण रामचरित्र को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य की सी न लगती और वे मनुष्यों के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यों के काम के न होते। उनका चरित्र भी उपदेशक महात्माओं की केवल महत्वगूँचक फुटकर बातों का संग्रह होता, मानवजीवन की विशद् अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले संबद्ध काव्य का विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाई बंधु बनकर आए थे और हमारे ही समान सुख दुःख भोगकर चले गए। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आए थे, मनुष्यता दिखाने आए थे। भूल चूक या लुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है? इसी एक धब्बे के कारण हम उन्हें मानव-जीवन से तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नहीं समझते हैं।

अब थोड़ा भरत के लोकपावन निर्मल चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। राम की वनयात्रा के पहले भरत के चरित्र की शुंखला संघटित करनेवाली कोई बात हम नहीं पाते। उनकी अनुपस्थिति में ही राम के अभिषेक की तैयारी हुई, राम वन को गए। ननिहाल से लौटने पर ही उनके शीलस्वरूप का स्फुरण आरंभ होता है। ननिहाल में जब दुःस्वप्न और बुरे शकुन होते हैं, तब वे मातापिता और भाइयों का मंगल मनाते हैं।

कैकेयी के कुचक्र में अणु मात्र योग के संदेह की जड़ यहीं से कट जाती है। कैकेयी के मुख से पिता के मरण का संवाद सुन वे शोक कर ही रहे हैं कि राम के वनगमन की बात सामने आती है जिसके साथ अपना संबंध—नाम मात्र का सही—समभङ्गर वे एकदम टक हो जाते हैं। ऐसी बुरी बात के साथ संबंध जोड़नेवाली कैकेयी माता के रूप में नहीं दिखाई देती। थोड़ी देर के लिये उनकी ओर से मातृभाव हट सा जाता है। ऐसा उज्वल अंतःकरण ऐसी घोर कालिमा की छाया का स्पर्श तक वहन नहीं कर सकता। यह छाया किस प्रकार हटे, इसी के यत्न में वे लग जाते हैं। हृदय का यह संताप बिना शांति-शील-समुद्र राम के समुख हुए दूर नहीं हो सकता। वे चट विरहव्यथित पुरवामियों को लिए दिए चित्रकूट में जा पहुँचते हैं और अपना अंतःकरण भरी सभा में लोकादर्श राम के समुख खोलकर रख देते हैं। उस आदर्श के भीतर उसकी निर्मलता देख वे शांत हो जाते हैं और जिस बात से धर्म की मर्यादा रक्षित रहे, उसे करने की दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

भरत ने इतना सब क्या लोकलज्जावश किया? नहीं, उनके हृदय में सच्ची आत्मग्लानि थी, सच्चा संताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दुःख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्मग्लानि ही उनकी सात्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है। इस आत्मग्लानि के कारण का अनुसंधान करने पर हम उस तत्व तक पहुँचते हैं जिसकी प्रतिष्ठा रामायण का प्रधान लक्ष्य है। आत्मग्लानि अधिकतर अपने किसी बुरे कर्म को सोचकर होती है। भरत जी कोई बुरी बात अपने मन में लाए तक न थे। फिर यह आत्मग्लानि कैसी? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की बुरी धारणा के अनुमान मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है तो संसार के कहने से क्या होता है। यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं। आत्मपक्ष और लोक पक्ष, दोनों का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अंतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोककी धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विकशील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्विकशीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी सात्विकशीलता अपने साथ लिए चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायें, पर अपने पीछे दस पाँच आदमियों के बीच दस पाँच दिन के लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायेंगे। ऐसे ऐकांतिक जीवन का चित्रण, जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोक को सामने करता है जिनके संबंध में राम कहते हैं—

मिटिहहि पाप प्रपंच सत्र अखिल अमंगल भार ।

लोक मुजस, परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥

जिन भरत को अग्रश की इतनी ग्लानि हुई, जिनके हृदय से धर्मभाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक में यश और परलोक में सुख दोनों क्यों न प्राप्त हों?

भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमें लोकभीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्मप्रवणता का मेल पाते हैं। राम के आश्रम पर जाकर उन्हें देखते ही भक्तिवश 'पाहि !' 'पाहि !' कहते हुए वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। सभा के बीच में जब वे अपने हृदय की बात निवेदन करने खड़े होते हैं, तब भ्रातृस्नेह उमड़ आता है, बाल्यावस्था की बातें

आँखों के सामने आ जाती हैं । इतने में ग्लानि आ दवाती है और वे पूरी बात भी नहीं कह पाते हैं —

पुलकि सरीर सभा भए ठाढ़े । नीरज नयन नेहजल बाढ़े ॥
कहव मोर मुनिनाथ निवाहा । एहि तें अधिक कहीं मैं काहा ॥
मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ । अपराधिहु पर कोह न काऊ ॥
मो पर कृपा सनेह विसखी । खेलत खुनिस न कवहूँ देखी ॥
सिसुपन ते परिहरेउ न संगु । कवहूँ न कीन्ह मोर मन भंगु ॥
मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोहीं । हारेहु खेल जितावहि मोहीं ॥

महूँ सनेह सँकोचवस, सनमुख कहेउ न वैन ।
दरसन तृपित न आजु लागि, प्रेमपियासे नैन ॥

विधि न सकेहु सहि मोर दुलारा । नीच वीच जननी मिस मारा ॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा । अपनी समुभि साधुसुचि को भा ॥
मातु मंद, मैं साधु सुचाली । उर अस आनत कोटि कुचाली ॥
फरइ कि कोदव वालि सुसाली । मुकुता प्रसव कि संवुक ताली ॥
बिन समुभे निज अघ परिपाकू । जारेउँ जाय जननि कहि काकू ॥
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरो । एकहि भाँति भलेहि भल मोरो ॥
गुरु गोसाईं, साहिव सिय रामू । लागत मोहि नीक परिनामू ॥

भरत को इस बात पर ग्लानि होती है कि मैं आप अच्छा बनकर माता को भला बुरा कहने गया । 'अपनी समुभि साधु सुचि को भा ?' जिसे दस भले आदमी, पवित्र और सज्जन लोग, जड़ और नीच नहीं—साधु और शुचि मानें उसी की साधुता और शुचिता किसी काम की है । इस ग्लानि के दुःख से उद्धार पाने की आशा एक इसी बात से हाँती है कि गुरु और स्वामी, वसिष्ठ तथा राम, ऐसे ज्ञानी और सुशील हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आशा ऐसे दृढ़ आधार पर थी कि पूर्ण रूप में फलवती हुई । भरत केवल लोक की दृष्टि में पवित्र ही न हुए, लोक को पवित्र करनेवाले भी हुए । राम ने उन्हें धर्म का साक्षात् स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट कह दिया कि—

भरत ! भूमि रह राउरि राखी ।

अब सत्य और प्रेम के विरोध में दोनों की एक साथ रक्षा करनेवाले परम यशस्वी महाराज दशरथ को लीजिए । वे राम को वनवास देने में सत्य की रक्षा और प्रतिष्ठा का पालन हृदय पर पत्थर रखकर—उमड़ते हुए स्नेह और वात्सल्य भाव को दबाकर—करते हुए पाए जाते हैं । इसके उपरांत हम उन्हें स्नेह के निर्वाह में तत्पर और प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँचते हुए पाते हैं । सत्य की रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्र को वनवास देकर और स्नेह की रक्षा प्राण देकर की । यही उनके चरित्र की विशेषता है—यही उनके जीवन का महत्व है । नियम और शील, धर्म के दो अंग हैं । नियम का संबंध त्रिवेक से है और शील का हृदय से ; सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अंतर्गत है । नियम के लिये आचरण ही देखा जाता है, हृदय का भाव नहीं देखा जाता । केवल नाम की इच्छा रखनेवाला पाखंडी भी नियम का पालन कर सकता है और पूरी तरह कर सकता है । पर शील के लिये सात्त्विक हृदय चाहिए । कभी कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है

कि एक को राह देने से दूसरे का उल्लंघन अनिवार्य हो जाता है। किसी निरपराध को फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोड़ा सा भूट बोल देने से उसकी रक्षा हो सकती है। अतः एक ओर तो दया हमें भूट बोलने की प्रेरणा कर रही है, दूसरी ओर 'नियम' हमें ऐसा करने से रोक रहा है। इतने भारी शीलसाधन के सामने तो हमें अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है। पर जहाँ शीलपक्ष इतना ऊँचा नहीं है, वहाँ उभय पक्ष की रक्षा का मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

दशरथ के सामने दोनों पक्ष प्रायः समान थे, बल्कि यों कहिए कि नियम की ओर का पलड़ा कुछ भुक्तता हुआ सा था। एक ओर तो सत्य की रक्षा थी, दूसरी ओर प्राण से भी अधिक प्रिय पुत्र का स्नेह। पर पुत्रवियोग का दुःख दशरथ के ऊपर ही पड़ने-वाला था। (कौशल्या के दुःख को भी परिजन का दुःख समझकर दशरथ का ही दुःख समझिए)। इससे अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख के डर से सत्य का त्याग उनसे न करते बना। उन्होंने सत्य की रक्षा की, फिर अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख की परमावस्था को पहुँचकर स्नेह की भी रक्षा की। इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील दोनों की रक्षा हो गई। रामचंद्र जी भरत को समझाते हुए इस विषय को स्पष्ट करके कहते हैं—

राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी । तनु परिहरेउ प्रेमपनु लागी ॥

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्ष के समन्वय द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुख रक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है। वह धर्म के किसी अंग को नोचकर दिखाने-वाला ग्रंथ नहीं है। यह देखकर बार बार प्रसन्नता होती है कि आर्यधर्म का यह सारसंपुट हिंदी कवियों में से एक ऐसे महात्मा के हाथ में पड़ा जिसमें उसके उद्घाटन की सामर्थ्य थी। देखिए, किस प्रकार उन्होंने राम के मुख से उपर्युक्त विवेचन का सार चौपाई के दो चरणों में ही कहला दिया।

रामायण की घटना के भीतर तो दशरथ का यह महत्व ही सामने आता है, पर कथोपकथन रूप में जो कविकल्पित चित्रण है, उसमें वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने दशरथ की अंतर्वृत्ति का कुछ और भी आभास दिया है। विश्वामित्र जब बालक राम लक्ष्मण को माँगने लगे, तब दशरथ ने देने में बहुत आगा पीछा किया। वे सब कुछ देने को तैयार थे, पर पुत्रों को देना नहीं चाहते थे। वृद्धावस्था में जाए हुए पुत्रों पर इतना स्नेह स्वाभाविक ही था। वे मुनि से कहते हैं—

चौशेपन पाएउँ सुत चारी । विप्र वचन नहि कहेउ विचारी ॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा । सरवस देउँ आजु सह रोसा ॥
देह प्रान तेँ प्रिय कछु नाहीं । सोउ मुनि ! देउँ निमिप एक माहीं ॥
सब मुत प्रिय मोहि प्रान की नाई । राम देत नहि वनइ गोसाई ॥

इससे प्रकट होता है कि उनका वात्मल्यस्नेह ऐसा न था कि वे साधारण कारणवश उनकी प्रेरणा के विरुद्ध कुछ करने जाते। मुनि के साथ जो उन्होंने बालकों को कर दिया, वह एक तो शाप के भय से, दूसरे उनकी अस्त्रशिक्षा की आज्ञा से।

उस वृद्धावस्था में वे अपनी छोटी रानी के वश में थे, यह उस घबराहट से प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हें हुई। वे उसके पास जाकर कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा । केहि दुइ सिर, केहि जम चहु लीन्हा ॥
 कहु केहि रंकहि करहुँ नरेसू । कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू ॥
 जानसि मोर सुभाउ बरोरु । मन तव आननचंद चकोरु ॥
 प्रिया ! प्राण, सुत, सरवस मोरे । परिजन प्रजा सकल वस तोरे ॥

प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सबको कँकेयी के वश में कहना स्वयं राजा का कँकेयी के वश में होना अभिव्यंजित करता है । एक स्त्री के कहने से किसी मनुष्य को यमराज के यहाँ भेजने के लिये, किसी दरिद्र को राजा बनाने के लिये, किसी राजा को देश से निकालने के लिये तैयार होना स्त्रैण होने का ही परिचय देना है । कँकेयी के सामने आने पर न्याय और विवेक थोड़ी देर के लिये विश्राम ले लेते थे । वाल्मीकि जी ने भी इस प्रकार की बातें उस अवसर पर दशरथ से कहलाई हैं ।

दशरथ के हृदय की इस दुर्बलता के चित्र के भीतर प्रचलित दांपत्यविधान का वह दोष भी झलका है जिसके पूर्ण परिहार का पथ आगे चलकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण द्वारा प्रदर्शित किया । आधी उम्र तक विवाह पर विवाह करते जाने का परिणाम अंत में एक ऐसा बेमेल जोड़ा होता है जो सब मामलों का मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है । एक में तो प्रेम रहता है, दूसरे में स्वाथ । अतः एक तो दूसरे के वश में हो जाता है और दूसरा उसके वश के बाहर रहता है । एक तो प्रेमवश दूसरे के सुख संतोष के प्रयत्न में रहा करता है, दूसरा उसके सुख संतोष की वहीं तक परवा रखता है जहाँ तक उससे स्वार्थसाधन होता है । र. म. ने 'एकभार्या' की मर्यादा द्वारा जिस प्रकार प्रेम के अपूर्व माधुर्य और सौंदर्य का विकास दिखाया, उसी प्रकार अपने पिता की परिस्थिति से भिन्न अपनी परिस्थिति भी लोक को दिखाई । कँकेयी ने एक बार दशरथ के साथ युद्धस्थल में जाकर पहिए में उँगली लगाई थी और उसके बदले में दो बरदान लिए थे, तो सीता चौदह वर्ष राम के साथ जंगलों पहाड़ों में मारी मारी फिरी और उस मारे मारे फिरने को ही उन्होंने अपने लिये बड़ा भारी बरदान समझा । अंत में जब राजधर्म की विकट समस्या सामने आती है, तब हम राम को ठीक उसका उलटा करने में समर्थ पाते हैं जो दशरथ ने कँकेयी को प्रमत्त करने के लिये कहा था । दशरथ एकमात्र कँकेयी को प्रमत्त करने के लिये किसी राजा को विना अपराध देश से निकालने के लिये तैयार हुए थे । पर राम प्रजा को प्रमत्त करने के लिये, विना किसी अपराध के, प्राणों से भी प्रिय सीता को निकालने को तैयार हुए । दशरथ अपनी स्त्री के कहने से किसी राजा तक को देश से निकालते, पर राम ने एक धाँवी तक के कहने से अपनी स्त्री को निकाल दिया । इतने पर भी सीता और राम में जो परस्पर गूढ़ प्रेम था, उसमें कुछ अंतर भी न पड़ा । सीता ने स्वामी के व्यवहार का कारण राजधर्म की कठोरता ही समझा, यह नहीं समझा कि राम का प्रेम मेरे ऊपर कम हो गया ।

सात्विक, राजस और तामस, इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्रविभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामी जी में पाते हैं—आदर्श और सामान्य । आदर्श चित्रण के भीतर सात्विक और तामस दोनों आते हैं । राजस को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं । इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान् और रावण आदर्श चित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव और कँकेयी सामान्य चित्रण के भीतर । आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से यहाँ तक सात्विक वृत्ति का

है और मुँह लटकाए कैकेयी के पास आ खड़ी होती है। कैकेयी को उसके अनुराग का पता चाह रहा हो, पर अभी तक द्वेष का पता बिलकुल नहीं है। वह मुँह लटकाने का कारण पूछती है। तब—

उतर देइ नहिं, लेइ उसासू । नारिचरित करि डारइ आँसू ॥
हँसि कह राति गाल बड़ तोरे । दीन्ह लपन सिख अस मन मोरे ॥
तवहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि । छाँड़इ स्वस कारि जनु साँपिनि ॥

उसको इस मुद्रा से प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेष का आभास इसके पहले कैकेयी को नहीं दिया था, यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत कम। जल्दी उत्तर न देने से यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयी के लिये बिलकुल नई है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकता। किस ढंग से कहें, यह सोचने में उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसी के सामने अब तक न प्रकट किए गए दुःख के वेग का भार भी दबाए हुए है। इतने में 'गाल बड़ तोरे'। इस वाक्य से जी की बात धीरे धीरे बाहर करने का एक रास्ता निकलता है। वह अपनी वही मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—

कत सिख देइ हमहिं कांउ माई । गाल करब केहि कर बलु पाई ?

किसका बल पाकर गाल कसूँगी। इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा—मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। क्रोध, द्वेष आदि के उद्गार के इस प्रकार क्रम क्रम से निकालने की पटुता स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, क्योंकि पुरुषों के दबाव में रहने के कारण तथा अधिक लज्जा, संकोच के कारण ऐसे भावों के वेग को एकवारगी निकालने का अवसर उन्हें कम मिलता है ?

रानी पूछती है कि 'सब लोग कुणल से तो हैं ?' इसका उत्तर फिर उसी प्रणाली का अनुसरण करती हुई वह देती है—

रामहिं छाँड़ि कुमल केहि आजू । जिनिहिं जनेमु देइ युवराजू ॥
भणउ कौमिलहि विधि अति दाहिन । देखत गरब रहत उर नाहिन ॥

किसी को क्रमशः अपनी भावपद्धति पर लाना, थोड़ा बहुत जिसे कुछ भी वात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचारपद्धति पर लाने के लिये क्रमशः प्रमाण देते जाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमशः किसी के हृदय को किसी भावपद्धति पर लाने के लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलने की आवश्यकता होती है। राम के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न करने के लिये मंथरा सपत्नी को सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमान को न सह सकना स्त्रियों में स्वाभाविक होता है। सपत्नी के घमंड की बात जी में आने पर कहाँ तक ईर्ष्या न उत्पन्न होगी ? इस ईर्ष्या के साथ भरत के प्रति वात्सल्यभाव भी तो कुछ जगाना चाहिए। इस विचार से फिर मंथरा कहती है—

पूत विदेमु न सोच तुम्हारे । जानति हह बस नाहु हमारे ॥

इतना हाने पर भी राजा की कृत्रिणता के निश्चय द्वारा जब तक राजा के प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न न होगा, तब तक कैकेयी में आवश्यक कठोरता और दृढ़ता कहाँ से

आवेगी ? कैकेयी के मन में यह बात जम जानी चाहिए कि भरत जान बूझकर हटा दिए गए हैं । इसके लिये ये वचन हैं—

नींद बहुत प्रिय सेज तुराई । लखहु न भूप कपट चतुराई ॥

इसपर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार बार उसके खेद का कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसी से उसके परम हित की बात कहना चाहता है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझकर ध्यान ही नहीं देता । उसके वचन ठीक वे ही हैं जो ऐसे अवसर पर स्त्रियों के मुख से निकलते हैं—

एकहिं बार आस सब पूजी । अग्र कछु कहव जीभ कर दूजी ?
फोरइ जोग कपार अभागा । भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा ॥
कहहिं भूठ फुरि बात बनाई । ते प्रिय तुम्हाहिं, करइ मैं माई ॥
हमहुं कहव अब ठकुरसोहाती । नाहिं त मौन रहव दिन राती ॥
करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा । ववा सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा ॥

मंथरा अब अपने उस भाग्य को दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई, दासी के घर उसका जन्म हुआ, उसकी बात की कोई कुछ कद्र ही नहीं करता, वह अच्छा भी कहती है तो लोगों को दूरा लगता है । विश्वास न करनेवाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य को दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न करने का एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग, विशेषतः स्त्रियाँ, स्वभावतः काम में लाती हैं । इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सच्चाई पर चला जाता है और फिर क्रमशः उसकी बातों की ओर आकर्षित होने लगता है । इस खेद की व्यंजना प्रायः 'उदासीनता' के द्वारा की जाती है; जैसे, 'हमें क्या करना है ? हमने आपके भले के लिये कहा था । कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसी का अहित देखा नहीं जाता' । मंथरा के कहे हुए खेदव्यंजक उदासीनता के ये शब्द सुनते ही भगड़ा लगानेवाली स्त्री का रूप सामने खड़ा हो जाता है—

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी । चेरि छाड़ि अब होव कि रानी ?
जारइ जोग सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥

अब तो कैकेयी को विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह राम के अभिपक्ष से होनेवाली कैकेयी की दुर्दशा का चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि राम का तिलक होना मुझे अच्छा लगता है, राम से मुझे कोई द्वेष नहीं है, पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी; यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है—

रामहिं तिलक कालि जो भयऊ । तुम कहैं विपतिबीज विधि त्रयऊ ॥
रेख खँचाइ कहहुं वल भाखी । भामिनि भइहु दूध के माखी ॥
जौ सुत सहित करहु सेवकाई । तौ घर रहहु, न ग्रान उपाई ॥
इस भावी दृश्य की कल्पना से भला कौन सी स्त्री क्षुब्ध न होगी ? किसी बात

पर विश्वास करने या न करने की भी मनुष्य की रुचि नहीं होती है । जिस बात पर विश्वास तो ग्रहण नहीं करता । मंथरा ने पहले अपनी बात पर विश्वास करने की रुचि भिन्न भिन्न मनोविकारों के उद्दीपन द्वारा कैकेयी में उत्पन्न की । जब यह रुचि उत्पन्न हो गई, तब स्वभावतः कैकेयी का अंतःकरण भी उसके समर्थन में तत्पर हुआ—

सुनु मंथरा, बत फुर तोरी । दहिनि आँख नित फरकइ मोरी ॥
दिन प्रति देखेउँ राति कुसपने । कहौं न तोहि तह वस अपने ॥
काह करौं सखि ? सूध सुभाऊ । दाहिन वाम न जानौं काऊ ॥

इस प्रकार जो भावी दृश्य मन में जम जाता है, उससे कैकेयी के हृदय में घोर नैराश्य उत्पन्न होता है । वह कहती है—

नैहर जनमु भरव वरु जाई । जियत न करव सवति सेवकाई ॥
अरि वस देव जियावत जाही । मरनु नीक तेहि जीवन चाही ॥

इस दशा में मँथरा उसे मँभालती है और कार्य में तत्पर करने के लिये आशा वँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—

जेइ राउर अति अनभल ताका । सोइ पाइहि यह फलु परिपाका ॥
पूछेउँ गुनिन्ह, रेख तिन्ह खाँची । भरत भुआल होहि यह साँची ॥

इस प्रसंग के चित्रण को देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने मानव अंतःकरण के कैसे कैसे रहस्यों का उद्घाटन किया है । ऐसी गूढ़ उद्भावना विना सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के नहीं हो सकती । बालकों की प्रवृत्ति का चित्रण हम परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में पाते हैं । अकारण चिढ़नेवालों को चिढ़ाना बालकों के स्वभाव के अंतर्गत होता है । चिड़चिड़े लोगों की दवा करने का भार मानों समाज ने बालकों ही को दे रखा है । राम के विनय करने पर भी परशुराम को ज्योंही लक्ष्मण चिढ़ते देखते हैं, त्यों ही उनकी बालप्रवृत्ति जागृत हो जाती है । लक्ष्मण का स्वभाव उग्र था, इससे इस कौतुक के बीच बीच में क्रोध का भी आभास हमें मिलता है । परशुराम की आकृति जब अत्यंत भीषण और वचन अत्यंत कटु हो जाते हैं, तब लक्ष्मण के मुँह से व्यंग वचन न निकलकर अमर्ष के उग्र शब्द निकलने लगते हैं । परशुराम जब कुठार दिखाते लगे, तब लक्ष्मण को भी क्रोध आ गया और बोले—

भृगुवर ! परसु देखावहु मोहीं । विप्र विचारि वचेउ नृप द्रोही ॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े । द्विज देवता घरहि के बाढ़े ॥

गोस्वामी जी ने लक्ष्मण की इस बालवृत्ति को लोकव्यवहार से बिल्कुल अलग नहीं रखा है, इसे परशुराम की क्रोधशीलता की प्रतियोगिता में रखा है । यह भी अपना लोकोपयोगी स्वरूप दिखा रही है । यदि परशुराम मुनियों की तरह आते, जो शांत और क्षमाशील होते हैं, तो लक्ष्मण को अवसर न मिलता । रामचंद्र जी कहते हैं—

जो तुम अवतेहु मुनि की नाई । पद रज सिर सिमु धरत गोसाई ॥
छमहु चूक अनजानत केरी । चहिय विप्र उर कृपा घनेरी ॥

